गीतागंगाचगायत्रीसीतासत्यासरस्वती ।
ब्रह्मविद्याब्रह्मवल्लीत्रिसंध्यामुक्तगेहिनी ॥

इत्येतानिजपान्नित्यंनरोनिश्चलमानसः । ज्ञानसिद्धिंलभेच्छीघ्रंतथान्तेपरमंपदम् ॥

॥ हिन्दी ॥

॥ भगवद्गीता ॥

जिसको

गदाधर सिंह

जेनरल सुपरिंटेंडेन्ट कलक्टरेट इटावा

ने

मूल संस्कृत से शुद्ध हिन्दी भाषा में
अनुवाद करके प्रकाश किया ।

HINDI

BHAGWADGITA

TRANSLATED FROM THE ORIGINAL SANS...

INTO

PURE HINDI

BY

GADADHAR SINGH

GENERAL SUPERINTENDENT

COLLECTORATE, ETAWAH.

BENARES :

THE CHANDRAPRABHA PRESS CO. Ld,

1896.

प्रथमबार १००० पुस्तकें

मूल्य प्रति पुस्तक ।∕)

डांकव्य)॥

निवेदन

प्रिय पाठकगण,

आज मैं एक और नवीन उपहार लेकर [illegible]
में समर्पण करने को उपस्थित हुआ हूं । इस [illegible]
और इस में बड़ा भेद है। वे यदि [illegible]
संयुक्त उद्यान की शोभा दिखाते [illegible] प्राकृतिक
कानन रूप उस परम पुरुष की महिमा को प्रकाश करता
है जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है, इसके प्रत्येक पत्ते और
कलियों में उसकी हथौटी का चमत्कार दिखाई देता है।

यह ग्रन्थ पहिले कुछ नीरस तो अवश्य जान पड़ेगा
किन्तु प्रशान्त भाव से यदि आप इस ज्ञानसागर में निमग्न
होकर अन्वेषण करेंगे तो ऐसे २ रत्न प्राप्त होंगे जो समुद्र
मथन के समय भी अप्राप्य थे। इस में श्रीकृष्णचन्द्र सच्चि-
दानन्द ने अर्जुन को योग का उपदेश किया है जो परम
धाम पहुंचने का सरल मार्ग है। कहा है किठनं ।
दुःखार्तैर्गीताज्ञानंचयैः श्रुतं ॥ संप्राप्तम मृतंविना ॥ २ ॥
हरेः ॥" इसको पढ़िये बारम्बार पढ़िये, राहकः ।
विचारिये तब इसके रस का अनुभव [illegible] त्परोजनः ॥ ३ ॥

कोई २ ऐसा भी कहते हैं [illegible] नहीं जानता और न कभी

और सन्यासियों के उपयुक्त है गृहस्थों के पढ़ने योग्य नहीं है क्योंकि इसमें संसार त्याग की चरचा है किन्तु यह उनकी भूल है। इस में तो वह यत्न लिखा है कि मनुष्य संसार के सम्पूर्ण कर्म करता हुआ भी ईश्वर की भक्ति का प्राप्त कर सक्ता है।

मैंने इस अनुवाद में शब्दार्थ की हति नहीं ग्रहण की है भावार्थ पर विशेष ध्यान रक्खा है तथापि जहां तक हो सका मूल से भिन्नता नहीं की है।

इस कार्य में मुझको श्री युक्त पंडित ललिता प्रसाद हेड पंडित ज़िला स्कूल इटावा से विशेष सहायता मिली है मैं उनका अनुग्रहीत हूं।

फाल्गुण शुक्ल ११ } आप लोगों का वही प्राचीन अनुचर
सम्वत १९५२ } गदाधर सिंह।

॥ गीतामहात्म्य ॥

गीता का महात्म्य पुराणों में तो बहुत विस्तार से वर्णित है, श्रीकृष्णचन्द्र अच्युदानन्द ने स्वयं भी इस की बड़ी प्रशंसा की है किन्तु सम्पूर्ण रूप यहां लिखने का अवकाश न देख कर भक्त जनो के हितार्थ कुछ थोड़ा सा प्रकाशित किया जाता है :—

ये शृण्वन्ति पठंत्येव गीताशास्त्रमहर्निशं ।
नतेवै मानुषा ज्ञेया देवा एवं न संशयः ॥ १ ॥

जो लोग रात दिन गीता पढ़ते और सुनते हैं उन की संज्ञा मनुष्यों की नहीं देवतों की है इस में कोई सन्देह नहीं ।

गीताशास्त्रस्य जानाति पठनं नैव पाठनं ।
परस्मान्न श्रुतं ज्ञानं नैव श्रद्धा न भावना ॥ २ ॥
स एव मानुषे लोके पुरुषो विड्वराहकः ।
यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परोजनः ॥ ३ ॥

जो गीता का पढ़ना पढ़ाना नहीं जानता और न कभी

दूसरे से सुना और न जिस को श्रद्धा और भावना है उस का जीवन इस लोक में शूकर के समान है और वह अधम है।

धिक्तस्य मानुषं देहं धिग्ज्ञानं धिक्कुलीनता।
गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥ ४ ॥

जो गीता के अर्थ को नहीं जानता उसके इस मानव तन, ज्ञान और कुलीनता को धिक्कार है। उससे बढ़कर दूसरा अधम नहीं है।

धिक् सुरूपं शुभं शीलं विभवं सद्गृहाश्रमं।
गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥५॥

जो इस शास्त्र को नहीं जानता उस के सुन्दर रूप, शील, विभव और श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम को धिक्कार है, उससे भी बढ़कर दूसरा अधम नहीं है।

धिक् प्रागल्भ्यं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महात्मतां।
गीताशास्त्रे रतिर्नास्ति तत्सर्वं निष्फलं जगुः ॥ ६ ॥

जिस को प्रीत गीताशास्त्र में नहीं है उस के प्रागलभ्य प्रतिष्ठा, पूजा, मान और महात्मापन को धिक्कार है और उस का सब कर्म निष्फल है।

धिक् तस्य ज्ञानमाचारं व्रतं चेष्टां तपो यशः।
गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ॥ ७ ॥

जो गीता के अर्थ को नहीं पढ़ता उसके ज्ञान, आचार,

व्रत, चेष्टा, तप और यज्ञ को धिक्कार है—उससे भी बढ़कर अधम दूसरा नहीं है।

योऽधीते सततं गीतां दिवारात्रौ यथार्थतः।
स्वपन् गच्छन् वदंस्तिष्ठन् शाश्वतं मोक्षमाप्नुयात्॥८॥

जो रात दिन निरंतर सोते, चलते, बैठते और बोलते अर्थ सहित गीता का जप किया करते हैं सनातन मोक्ष को पाते हैं।

भूतप्रेतपिशाचाद्यास्तत्र नो प्रविशन्ति वै।
अभिचारोद्भवं दुःखं परेणापि कृतं च यत्॥ ९॥

जिस घर में गीता का पूजन होता है उस में भूत प्रेत पिशाचादि और अन्य दूसरे मंत्र यंत्रादि अभिचार से उत्पन्न दुःख प्रवेश नहीं करते।

नोपसर्पंति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे।
तापत्रयोद्भवा पीड़ा नैव व्याधिभयं तथा॥ १०॥

और ऐसे घरों में दैहिक, दैविक और भौतिक ताप और रोग भी पीड़ा नहीं देते।

न शापं नैव पापं च दुर्गतिं न च किंचन।
देहेऽरयः षडेते वै न बाधन्ते कदाचन॥ ११॥

वहां न कोई शाप, पाप, वा दुर्गति से दुःख हो सक्ता और न देह में स्थित मन समेत छवो इन्द्रियां क्लेश दे सक्ती हैं।

स्नातो वा यदि वाऽस्नातः शुचिर्वा यदि वाऽशुचिः।
विभूतिं विश्वरूपं च संस्मरन् सर्वदा शुचिः ॥ १२॥

स्नान किये हो वा न किये हो, शुचि हो अथवा अशुचि विभूतियोग और विश्वदर्शन के प्रकरण का पढ़ने वाला सर्वदा पवित्र कहाता है।

अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादिकृतं च यत्।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पर्शस्पर्शजं तथा ॥ १३ ॥
ज्ञाताज्ञातकृतं नित्यमिंद्रियैर्जनितं च यत्।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥ १४॥

अनाचार, निन्दित शब्द सम्भाषण, अभक्ष्य भक्षण, और अस्पर्श योग्य वस्तु के स्पर्श से तथा ज्ञान अज्ञानवश इन्द्रियों द्वारा जो पाप हुए हों वे सब गीता के पाठ मात्र से जाते रहते हैं।

पाठेऽसमर्थः संपूर्णे तदर्द्धं पाठमाचरेत्।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ १५॥

यदि कोई सम्पूर्ण पाठ न कर सके केवल आधी ही करे तो उस को गोदान का फल होता है।

षडंशं जपमानस्तु गंगास्नानफलं लभेत्।
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ १६॥

यदि छ अध्याय का पाठ करै तो उस को सोमयाग का

फल होता है और यदि तीन ही अध्याय का पाठ करै तो गंगा स्नान का फल भोगता है।

तथाऽध्यायद्वयं नित्यं पाठमानो निरन्तरं।
इन्द्र लोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद्ध्रुवं ॥ १७ ॥

केवल दोही अध्यायों का यदि नित्य पाठ करता रहै तो इन्द्रलोक में पहुंच कर एक कल्प बास करता है।

एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ १८॥

भक्ति के सहित यदि एक ही अध्याय का नित्य पाठ करै तो रुद्रलोक में पहुंच कर शिव का गण हो कर चिर-काल बास करै।

अध्यायार्द्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः।
सम्प्राप्नोति रवेर्लोकं मन्वंतरशतं समाः ॥ १९॥

जो केवल आधी अथवा पावही अध्याय का नित्य नियम सहित पाठ करता रहै तो वह सौ मन्वन्तर लों सूर्यलोक में बास करै।

गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयं।
त्रिकद्विकैकमर्द्धं वा श्लोकानां च पठेन्नरः।
चंद्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतायुतं ॥ २० ॥

जो गीता के दश, सात, पांच, चार, तीन, दो, एक अथवा

आधही श्लोक भी निरन्तर पाठ किया करै तो दश कोटि वर्ष लों चन्द्रलोक में वास करै ।

गीतार्थमेककालेपि श्लोकमध्यायमेव च ।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदं ॥ २१ ॥

कहां लो कहैं यदि कोई एक बेर भी गीता के एक अध्याय वा एक श्लोक का अर्थ स्मरण करता हुआ प्राण त्यागै तो मुक्त लाभ करैगा ।

शतपुस्तकदानं च गीतायाःप्रकरोति यः ।
सयाति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिवर्जितं ॥ २२ ॥

इसके व्यतिरिक्त यदि कोई मनुष्य सौ प्रति गीता का दानही करै तो ब्रह्म लोक को प्राप्त होगा जहां से फिर लौटना नहीं होता ॥

॥ हिन्दी ॥

॥ भगवद्गीता ॥

प्रथम अध्याय ।

अर्जुन विषाद ।

धृतराष्ट्र ने कहा "हे, संजय! युद्ध की इच्छा करने वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्र हो कर फिर क्या किया?" संजय ने उत्तर दिया कि "राजा दुर्योधन ने पाण्डव की युद्धार्थ सजी हुई सेना को देख कर द्रोणाचार्य के समीप जाकर कहा कि" हे आचार्य! अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपद के पुत्र द्वारा समर हेतु विसज्जित इस पाण्डु के पुत्रों की महत सेना को देखो। इस में बड़े २ शूर वीर, धनुषधारी जो युद्ध में भीम और अर्जुन के समान हैं जैसे युयुधान, विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, महाबली काशीराज, पुरुजित, कुंतिभोज, नरों में धुरन्धर शैव्य, पराक्रम शाली युधामन्यु, वीरवर उत्तमौजा और सुभद्रा और द्रुपदी के सब महारथी पुत्र उपस्थित हैं। और हे द्विजवर हमारे नायकों में जो श्रेष्ठ हैं

उन को भी जान लीजिये आप के स्मरण हेतु कहता हूं । आप, भीष्म, कर्ण, समरविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र जयद्रथ इनके व्यतिरिक्त और भी अनेक शूर हैं जो मेरे लिये प्राण प्रदान करने को सन्नद्ध हैं और सब प्रकार के शस्त्र चलाने वाले और युद्ध विद्या में निपुण हैं। किन्तु मेरा दल यद्यपि भीष्मद्वारा रक्षित है तथापि असमर्थ है और उनका भीम द्वारा ही संरक्षित समर्थ जान पड़ता है। आप सब लोग जो जिस नाके पर स्थित हैं भीष्म को समर्थन करें तो काम चले। यह सुन कर तेजस्वी वृद्ध कुरुपितामह ने उन के हर्षोत्पादन हेतु सिंह से अधिक गर्जन करके शंख फूंका। तदनन्तर सहसा अनेक शंख, भेरी, पणव, आनक और गोमुख बज उठे और बड़ा कोलाहल हुआ। उस समय श्वेत अश्वनियुक्त बड़े रथ पर आरूढ़ माधव अर्थात् हृषीकेश ने अपने दिव्य शंख पांचजन्य को और अर्जुन अर्थात धनंजय ने अपने देवदत्त शंख को बजाया, और भीम कर्म करने वाले वृकोदर ने पौंड्र नाम महा शंख को फूंका। कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक को बजाया, और हे पृथ्वीपति! काशी के परम धन्वी राजा, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराट, अपराजित सात्यकि, द्रुपद और द्रौपदी औ सुभद्रा

के सब भ्राताऽनु याडु पुत्रों ने पृथक २ अपने २ शंखों को बजाया। उस तुमल नाद ने पृथ्वी और नभ को शब्दाय-मान करके धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय को विदीर्ण किया। उन की इस अवस्था को देखकर, शस्त्र संचालन प्रारम्भ नहीं होने पाया था कि, अर्जुन ने धनुष उठाकर श्रीकृष्ण से कहा कि मेरे रथ को दोनो सेनो के बीच खड़ा कर दो मैं इन उपस्थित युद्धाकांक्षियों को देखूं कि इस युद्ध कर्म में कौन मेरे साथ लड़ने योग्य है। ये दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र के पुत्रों के प्रसन्न करने की इच्छा से युद्ध में एकत्रित हुए हैं॥

हे भारत! यह सुनकर हृषीकेश ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनो के बीच में स्थापित कर के कहा कि देखो यह भीष्म द्रोण आदि सब कुरु वंशी राजा खड़े हैं॥

अर्जुन ने जब दोनों सेनो में काका, दादा, गुरु, मामा भाई, पुत्र, पौत्र, सखा मित्रादि सब बन्धुओं को खड़े देखा परम दयालु हो कर विषाद कर के कहा कि हे कृष्ण इन अपने ही लोगों को युद्ध करने के हेतु खड़े हुए देख कर मेरे अवयव शिथिल होते हैं और मुंह सूखा जाता है, शरीर कांपता है और रोयें खड़े होते हैं; मेरा धनुष गांडीव हाथ से गिरा पड़ता है, त्वचा जलती है, और मुझ को घुमटा सा आता है, मैं खड़ा नहीं रह सक्ता हूं। और

हे केशव ! मुझको शकुन भी उलटे दीखते हैं अतएव मैं इस युद्ध में अपने बंधुओं को मारकर कुछ लाभ नहीं देखता। मुझ को राज्य सुख और विजय की कांक्षा नहीं है। राज्य भोग और जीवन लेकर क्या करना है? जिनके लिये राज्य भोग और सुख की कामना होती है वे तो प्राण और धन परित्याग कर सामने रण में खड़े हैं। इन गुरु, पितर, पुत्र, पितामह, मातुल, श्वशुर, पौत्र, शाला और सम्बन्धियों को त्रैलोक राज्य के पाने के लिये भी नहीं मार सक्ता चाहे वे मुझ को मारें तो पृथ्वी के लिये क्या मारूंगा! और हे जनार्दन इन आततायी धृतराष्ट्र के पुत्रों के मारने से क्या लाभ होगा? पाप तो अवश्य लगेगा। अतएव मैं अपने बांधव धृतराष्ट्र के पुत्रों को नहीं मार सक्ता। इन के मारने से मुझको क्या सुख मिलैगा? ये तो लोभ विवश होकर उन्मत्त चित्त हो रहे हैं इनको कुछ सूझ नहीं पड़ता कि कुल के क्षय और मित्र द्रोह से क्या दोष वा पाप होता है। किन्तु हे जनार्दन! हम लोग जान बूझ कर भी ऐसे कर्म से निवृत्ति होने का यत्न क्यों न करें? कुल के नाश होने से सनातन धर्म का नाश होता है, धर्म के नाश से अधर्म का प्रवेश होता है और अधर्म के प्रवेश से कुल की स्त्रियां बिगड़ जाती हैं और उनके बिगड़ने से वर्ण संकर उत्पन्न होते हैं। संकर

कुलनाशकारियों के कुल के नरक के हेतु हैं इसी से इनके पितर पिण्ड जलादि से रहित होकर अधो गति को प्राप्त होते हैं और वर्ण संकर करने वाले कुल-नाशकारियों के ये दोष सनातन जाति और कुल धर्म को उच्छिन्न कर देते हैं। हे जनार्दन! जिस मनुष्य के कुल धर्म का नाश हो जाता है उसका सदैव के लिये नरक में वास होता है ऐसा श्रुति में सुना है। हाय! शोक! राज्य सुख के लोभ से अपनेही जनों को मारने को उद्यत हुआ तो मैं बड़े भारी पाप करने के लिये कृत निश्चय हुआ! यदि वे मुझ को इस निःशस्त्र और चुप बैठे रहने की अवस्था में शस्त्र से मारें तो मेरे लिये परम हित हो—यह कह कर शोक ग्रस्त होकर अर्जुन तीर धनुष फेंक कर रथ के बीच में बैठ गया॥

द्वितीय अध्याय।

सांख्य योग।

अर्जुन को इस प्रकार दया संवेष्टित विषाद संमोहित और वारि विगलित व्याकुल नेत्र संयुक्त देखकर कृष्ण ने कहा कि हे अर्जुन! इस विषम समय में यह कातरता जो आर्यों के योग्य नहीं वरन स्वर्ग अवरोधक और कीर्त्ति

नाशक है तुमारे में कहां से प्राप्त हुई? कायर मत हो, यह तुम को उचित नहीं है। क्षुद्र हृदय दुर्बलता को परित्याग करके खड़े हो ॥

अर्जुन ने उत्तर दिया कि हे अरिसूदन! इस संग्राम में मैं भीष्म और द्रोण पर तीर कैसे चलाऊं? वे तो परम पूज्य हैं! लोक में भिक्षान्न से जीवन निर्वाह करना प्रभावशाली गुरुओं को मारने की अपेक्षा श्रेष्ट है, यदि मैं इन सम्मुखस्थ अर्थ कामी गुरुओं को मारूं तो रुधिर सम्मिलित भोजन खाऊंगा। मैं नहीं जानता कि मैं जीतूंगा कि वे जीतेंगे किन्तु जिन के मरण पश्चात मैं जीवन को व्यर्थ समझता हूं वे तो जीव देने को आगेही खड़े हैं। कातरता के दोष से मैं विमूढ़ हो रहा हूं धर्म अधर्म सूझ नहीं पड़ता अतएव मैं तुमारी शरणागत हूं मुझको अपना शिष्य जान कर समुचित शिक्षा दो क्योंकि मैं देखता कि पृथ्वी भर का अकंटक राज्य क्या देव लोक का आधिपत्य भी प्राप्त होने पर यह मेरा इन्द्रिय शोषक शोक दूर नहीं हो सक्ता। मैं तो लड़ नहीं सक्ता ॥

इस पर कृष्ण ने हंस दिया और कहा कि तुम तो भक्तों की सी बातें करते हो, जो पदार्थ शोचनीय नहीं है उसका क्या शोच करना? सज्ञ लोग मृत और जीवित दोनोहीं के लिये कुछ चिन्ता नहीं करते। ऐसा कोई

समय नहीं था जब न मैं था न तुम थे, न ऐसा कोई समय था जब ये राजा लोग न थे और न आगामि ऐसा कोई समय होगा जब हम लोग न होंगे। इस देह में रहनेवाले को जैसे कुमार यौवन और जरा अवस्था प्राप्त होती है उसी प्रकार उसको दूसरा शरीर भी मिल जाता है। इन्द्रियां और उनके विषयों के परस्पर संयोग से सुख दुःख आदि का ज्ञान होता है और ये अनित्य हैं उनकी उत्पत्ति और लय हुआ ही करती है उनका विचार तुम को करना व्यर्थ है। जिस को इन से व्यथा नहीं होती उस धीर पुरुष को सुख और दुःख समान हैं और वही अमरत्व को प्राप्त होता है। देखो जो पदार्थ सत है अर्थात् जिसमें सत्व है उसका नाश नहीं हो सक्ता और जो असत है अर्थात् जिसमें कुछ सत्व नहीं उसकी स्थिति नहीं हो सक्ती। तत्व ज्ञानियों ने इस विषय को अच्छी रीति सिद्ध किया है। यह ब्रह्माण्ड जिस्से व्याप्त है उसको अविनाशी जानो उसका कोई किसी प्रकार नाश नहीं कर सक्ता। हे अर्जुन! शरीर के भीतर रहनेवाला जीव नित्य, अविनाशी और अप्रमेय है किन्तु यह देह उसका अन्तवन्त है अतएव तुम युद्ध करो। जो इस को मारनेवाला समझते हैं और जो इस को मरनेवाला समझते हैं दोनों भूलते हैं, न यह मारता है न मारा जाता है—इसका न जन्म होता है न

मरण और न यह होकर फिर न होगा। यह तो अज, नित्य, सनातन और बहुकालीन है, शरीर के नष्ट होने पर नष्ट थोड़ही होता है! जिस पुरुष ने ऐसा निश्चय कर लिया वह कब किसी को मारेगा वा किसी से मारा जायगा? जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्र को परित्याग करके अन्य नवीन वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार यह देही भी पुराने कलेवर को छोड़ कर नया धारण करता है, न इसको शस्त्र काट सक्ता है, न अग्नि जला सक्ती है, न यह पानी से भींग सक्ता है और न वायु लगने से शुष्क हो सक्ता है। तुम को वारम्वार क्या समझावें इसको अव्यक्त, अचिन्त्य, और अविकार्य कहते हैं तस्मात तुम को शोच करना नहीं चाहिये॥

और जो यह मानो कि यह सदैव मरता और जन्मता रहता है तौभी शोच करने का स्थान नहीं है क्योंकि जो जन्मता है अवश्य मरता है और जो मरता है उसका जन्म भी ध्रुव होता है तब भी तुम को होनहार का शोच करना नहीं चाहिये। प्राणीमात्र आदि में अव्यक्त मध्य में व्यक्त और अन्त में फिर अव्यक्त हो जाते हैं तब भी तो शोच करने का स्थान नहीं है! कोई इस को आश्चर्यवत देखता है कोई आश्चर्यवत कहता है कोई आश्चर्यवत सुनता है और कोई सुनकर भी नहीं जानता। यह देही

चाहे किसी के शरीर में हो परन्तु अवद्ध है फिर भी तुम सब प्राणियों के लिये शोच नहीं कर सक्ते। यदि अपने धर्म को ओर देखो तब भी तुम को विचलित होना नहीं चाहिये क्योंकि क्षत्रियों को धर्मयुद्ध से श्रेष्ट पदार्थ दूसरा नहीं है। हे अर्जुन! वह क्षत्री धन्य है जिस को अनायास खुले हुए स्वर्गद्वार की भांति ऐसा युद्ध प्राप्त हो। यदि तुम इस धर्म संग्राम में योग न दो तो अपने धर्म और कीर्ति को तिलांजुलि देकर पाप के भागी होगे। लोग तुमारी इस अखण्ड अकीर्ति को गावैंगे और माननीय पुरुषों को अकीर्ति मृत्यु से अधिक है। महारथी लोग तुम को भय के मारे रण से पराङ्मुख समझैंगे और जो लोग अभी तुमारी प्रशंसा करते हैं उनकी आंखों में तुम उतर जावगे। तुमारे बैरी लोग अनेक प्रकार का अपवाद उठावैंगे और तुमारी सामर्थ्य की निन्दा करेंगे, भला इससे दुःख की बात और क्या होगी? हे कौंतेय! उठो और लड़ो! यदि मारे जावगे तो स्वर्ग पावोगे और जीते रहोगे तो पृथ्वी का राज्यसुख भोग करोगे। सुख, दुःख, हानि, लाभ, और जय, पराजय को सम भाव समझ कर युद्ध में प्रवृत्त हो तो तुम को पाप नहीं होगा॥

यह उपदेश तो तुम को सांख्य शास्त्र के अनुसार हुआ अब ज्ञान योग का उपदेश सुनो जिस के प्रभाव से तुम

कर्म बंधन से छूटोगे। न इस में अभिक्रम नाश का दोष है और न प्रत्यवाय का दोष है इसके स्वल्पांशही ज्ञान से प्राणी महत भय से छूटता है। हे कुरु नन्दन! निश्चयात्मिका बुद्धि इस लोक में एकही है किंतु अपर पक्ष वाली बुद्धि बहु शाखा वाली और अनंत है। वेद के कर्म-फल भाग के अनुयायी अविपश्चित और कामात्मन हैं उन के मत में स्वर्ग प्राप्ति से बढ़ कर और कोई पदार्थ नहीं है। वे ऐसी प्रफुल्लित बातें कहते हैं जिस में क्रिया विशेष का बाहुल्य रहता है और जिनकी गति भोग और ऐश्वर्य के प्रति होती है। जो भोग ऐश्वर्य में प्रसक्त हैं उनका ज्ञान हर जाता है वे अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धि को समाधि में नियुक्त नहीं कर सक्ते। हे अर्जुन! वेद में तो सत्व, रज, तम तीनों विषय हैं तुम इन तीनों से रहित हो जाव अर्थात् निर्द्वन्द्व, नित्यज्ञानस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान हो। अगाध जल से भरे हुए सरोवर से मनुष्य को उतनाही सम्बन्ध रहता है जितना उसको प्रयोजन होता है वही सम्बन्ध ब्रह्मज्ञानी पंडितो को सम्पूर्ण वेद से रहता है। तुम को केवल कर्म करने का अधिकार तो है किंतु उसके फल का अधिकार नहीं है अतएव कर्म के फल के हेतु मत हो और अकर्म से संसर्ग न रक्खो। योगस्थ अथवा विरक्त होकर निष्काम कर्म करो और उसको सिद्धि

और असिद्धि को सम समझो। समत्वही को योग कहते हैं। ज्ञान योग से कर्म बहुत परे है अतएव ज्ञान ही को शरण लो। फल के चाहने वाले कंगले होते हैं। ज्ञानी लोग सुकृत और दुष्कृत दोनों को त्याग देते हैं, तस्मात योग में योग दो, कर्म की कुशलताही योग है। बुद्धिमान पुरुष कर्म जनित फल को परित्याग और जन्म बंधन से विमुक्त होकर निर्व्याधि परम्पद को प्राप्त होते हैं। जब तुमारी बुद्धि मोह सागर पार कर जायगी तब तुम श्रुत और श्रोतव्य के विराग को पहुंचोगे। जब तुमारी संशयग्रस्त बुद्धि समाधि में निश्चल स्थित होगी तब तुम को योग प्राप्त होगा॥

तब अर्जुन ने पूछा कि हे केशव! स्थितप्रज्ञ और समाधिस्थ किस को कहते हैं? स्थिरबुद्धि वाला क्या कहता है और कैसे चलता, बैठता है?

भगवान ने उत्तर दिया कि जब मनुष्य अपने मनोगत संपूर्ण कामनाओं को परित्याग कर देता है और अपने आपही में संतुष्ट हो जाता है, तब उस को स्थितप्रज्ञ कहते हैं। जिसका मन दुःख में व्याकुल नहीं होता और सुख में कामना हीन रहता है और जो राग भय और क्रोध से अतीत होता है उस को स्थिरबुद्धि मुनि कहते हैं। जो सर्वत्र निस्नेह रहता है और न शुभ की प्रशंसा करता

और न अशुभ को निन्दा करता है उसको बुद्धि धीर कही जाती है। और भी जो सर्व इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है जैसे कूर्म अपने शरीर को संकुचित कर लेता है उसको बुद्धि प्रतिष्ठित कही जाती है। निराहार देही की विषय वासना तो रहित हो जाती है किंतु उनके रस का ज्ञान उसको बना रहता है परंतु पर्मात्मा के प्राप्त कर ने से वह ज्ञान भी नीरस होकर छूट जाता है। यत्न करने वाले ज्ञानवान पुरुष को भी दुःखद इन्द्रियां मन को बलात्कार हर लेतीं हैं अतएव तुम उनको रोक कर हमी को सब से श्रेष्ट समझ कर योग युक्त होकर बैठो क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं उसी का ज्ञान प्रतिष्ठा के योग्य होता है। विषय के ध्यान करने वाले पुरुष को उस में संग अर्थात् विलीनता प्राप्त होती है और इस संग से कामना प्राप्त होती है और कामना की अतृप्ति से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह होता है और मोह से स्मृतिविभ्रम और स्मृति के भ्रंश होने से अज्ञान होगा और अज्ञान से नाश। राग द्वेष विहीन और स्ववश इन्द्रियों से विषयाचरण करने वाला आत्मज्ञानी आनन्द को प्राप्त करता है। उस आनन्द से उसके सब दुःखों की हानि हो जाती है और प्रसन्नचित की बुद्धि शीघ्रही स्थित हो जाती है।

योग में जो स्थित नहीं उसको बुद्धि कहां और उस को विचार कहां और जिस को कुछ विचार नहीं उसको शांति कहां और जिस को शांति नहीं उसको सुख कहां ? जिस पुरुष का मन इन्द्रियों की गति की प्रति अनुगमन करता है उसका वह मन उसकी बुद्धि को उसी प्रकार खींचता है जैसे जल में नौका को वायु। तस्मात हे महाबाहु! जिसकी इन्द्रियां अपने अर्थ से रोकी गयीं हैं उसी का ज्ञान प्रतिष्ठा के योग्य है। सब प्राणियों की जो रात्रि है उस में संयमी लोग जागते हैं और जब प्राणी लोग जागते हैं तब मुनि लोग सोते हैं। जल से भरे हुए अचल प्रतिष्ठित समुद्र में जैसे वारिस्रोत-प्रवेश करते हैं उसी प्रकार सब कामनायें जिस में प्रवेश कर जाती हैं अर्थात् जो आप्तकाम हो जाता है उसको शांति प्राप्त होती है न कामना वाले को। जो व्यक्ति सर्व कामनाओं को परित्याग, निरिच्छु, ममता रहित और निरहंकारी होता है उसी को शांति प्राप्त होती है। हे पार्थ! इस ऊपरोक्त विषय को ब्रह्म संबंधी स्थिति कहते हैं इस को पाकर प्राणी विमोहित नहीं होते, अंत समय में भी इस की प्राप्ति से निर्वाण ब्रह्म मिलता है॥

तृतीय अध्याय।

कर्म योग।

अर्जुन ने कहा कि हे केशव ! यदि तुमारा यह सिद्धांत है कि कर्म योग से ज्ञान योग अधिक श्रेष्ट है तो मुझ को घोर कर्म में क्यों लगाते हो ? गर्भित बातें कह कर मेरो बुद्धि को भ्रम में क्यों डालते हो ? निश्चय कर के एक बात बताओ जिस्से मेरा कल्याण हो॥

भगवान ने कहा कि मैं ने पहिले कहा कि इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा है, सांख्य वालों को ज्ञान योग में और योगियों को कर्म योग में। कर्म के न करने से कोई पुरुष निष्कर्म नहीं हो सक्ता और न सन्यास से सिद्धि प्राप्ति होती है। कोई क्षण भर भी वे कर्म किये नहीं रह सक्ता, प्रकृति के गुण अनायास सब से कर्म कराते हैं। जो पुरुष कर्मेन्द्रियों को रोक कर उनके विषयों को मन से स्मरण करता रहता है वह विमूढ़ मिथ्याचारी कहा जाता है, किंतु जो असक्त होकर और मन से इन्द्रियों को रोक कर कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म योग को करता है वह योग्य कहाता है। तुम सदैव कर्म को करो क्योंकि कर्म के न करने से उसका करना श्रेष्ट है। तुमारी शरीर यात्रा भी बे कर्म किये सिद्ध नहीं हो सक्ती। यह लोक यज्ञ वाले कर्म के लिये है दूसरे कर्म इसके बंधन

मात्र हैं इस लिये तुम मुक्तसंग होकर कर्म करो। प्रजापति ने यज्ञ सहित प्रजा को उत्पन्न करके कहा कि तुम इससे अपनी वृद्धि करो, यह तुमारी इष्ट कामना की देने वाली होगी। इस्से देवतों की वृद्धि करो और वे तुमारी वृद्धि करें इसी प्रकार परस्पर की वृद्धि से परम कल्याण को पाओगे। यज्ञ से वृद्धि पाये हुए देवते तुम को तुमारा प्रिय भोग देंगे उनके दिये हुए पदार्थ को चाहिये कि तुम उनको अर्पण करके भोग करो नहीं तो तुमारी संज्ञा चोर की होगी। जो संत यज्ञ के अवशिष्ट भाग को खाकर रहता है वह सब पापों से छूट जाता है और जो अपनेही लिये भोजन बनाता है अर्थात देवतों को अर्पण नहीं करता वह पाप खाता है अर्थात पापी है। अन्न से प्राणी मात्र का जीवन है वह मेघ से उत्पन्न होता है, मेघ की उत्पत्ति यज्ञ से है और यज्ञ कर्म से होता है। कर्म की उत्पत्ति वेद से है और वेद की उत्पत्ति अक्षर अर्थात् परमात्मा से इस लिये सर्वव्याप्त परमात्मा नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है। हे अर्जुन! जो प्राणी इस प्रकार परिवर्तित चक्र के अनुसार नहीं चलता उस पापायु विषयासक्त का जीवन निष्फल है। किंतु जिस को आत्माही में रति है और आत्माही में तृप्ति और आत्माही से संतुष्टि है उस को कुछ कर्तव्य नहीं है न उसको कृत और अकृत कर्म

से कुछ अर्थ और न किसी प्राणी से कुछ प्रयोजन होता। अतएव तुम फलसंग रहित होकर सदैव योग्य कर्म को करते रहो ऐसही लोगों को परमात्मा की प्राप्ति होती है। जनकादि ने कर्म ही के द्वारा संसिद्धि प्राप्त की। इस लिये संसार के कल्याण की ओर भी दृष्टि करके तुम को कर्म करना उचित है क्योंकि श्रेष्ट लोग जैसा करते हैं इतर लोग उसी का अनुकरण करते हैं और उन्हीं के प्रमाण को प्रमाण मानते हैं। देखो मुझ को तीनो लोक में कुछ करतव्य नहीं और न कुछ प्राप्तव्य है तथापि मैं कर्म करता रहता हूं। यदि मैं ऐसा न करूं तो लोग भी मेरी देखा देखी आलसी हो जावें। मेरे कर्म न करने से लोक का नाश होगा और मैं वर्णसंकर का कारण हूंगा और इस प्रजा को मलिन करूंगा। जैसे फलासक्त अज्ञानी लोग कर्म करते हैं उसी प्रकार मुक्तसंग ज्ञानी लोगों को संसार के कल्याणार्थ कर्म करना चाहिये। बुद्धिमान को चाहिये कि फलासक्त अज्ञानियों की बुद्धि को विचलित न करें वरन अपने युक्ताचरण से उन में कर्म करने की श्रद्धा उपजावें। यद्यपि सब कर्म प्रकृति के अनुसार होते हैं किंतु अहंकारविमूढ़ अथवा ममतापरवश लोग यही समझते कि "अमुक कर्म मैंने किया"। परन्तु गुण और कर्म के तत्व के जानने वाले ऐसा नहीं समझते।

प्रकृति के गुण से विमूढ़ पुरुष गुण और कर्म में लिप्त होते हैं आत्मज्ञानी उन मंद बुद्धियों को विचलित नहीं करते। अतएव सब कर्मों को मेरे में अर्पण करके विवेक युक्त चित्त से फल की इच्छा परित्याग, ममता हीन और शोक शून्य हो कर समर में प्रवृत्त हो॥

जो श्रद्धावान् पुरुष इस मेरे मत के अनुसार चलता है सब कर्मों से छूट जाता है किन्तु जो इस की निन्दा करता है ग्रहण नहीं करता उस अज्ञानी को नष्ट जानो। ज्ञानी तो अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करताही है साधारण मनुष्य तो उस के अतिरिक्त और कुछ जानताही नहीं तो निग्रह से क्या लाभ होगा? विषयों से राग और द्वेष इन्द्रियों में व्यवस्थित है उनके वश होना उचित नही क्योंकि वे मनुष्य के वैरी हैं। हे अर्जुन! दूसरे के स्वनुष्ठित धर्म से अपना धर्म चाहे कुछ न्यून भी हो पर श्रेय है॥

अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण! फिर मनुष्य न चाहते हुए भी परवश की भांति किसकी प्रेरणा से पाप करता है?

कृष्ण ने कहा कि रजोगुण से उत्पन्न बहु भक्षी और महापापी कामना और क्रोध को इस लोक में परम वैरी समझो। जैसे अग्नि धुवां से, मुकुर मल और गर्भ जरायु से ढका रहता है उसी प्रकार ज्ञानियों के नित्य वैरी दुष्पूर और अग्नि के समान न तृप्त होने वाले काम से ज्ञान ढका

रहता है। इन्द्रियां मन और बुद्धि इस के स्थित के स्थान हैं इन्हीं के द्वारा वह ज्ञान को आच्छादित कर देही को मोह लेता है। इसलिये तुम पहिले इन्द्रियों को रोक कर इस पाप के मूल और ज्ञान विज्ञान के नाश करने वाले को दमन करो। इन्द्रियां बड़ी प्रबल हैं उनसे बढ़कर मन, मन से बढ़ कर बुद्धि और बुद्धि से बढ़कर वही काम है। ऐसा समझ कर आत्मा को आत्मा से सम्हाल इस दुःसह शत्रु को मारो ॥

चतुर्थ अध्याय।

ज्ञानयोग

कृष्ण ने कहा कि मैंने पहिले इस पूर्वोक्त योग को सूर्य से कहा सूर्य ने मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा इसी प्रकार एक दूसरे से राजऋषियों ने पाया किन्तु बहुत काल बीतने से उसका इस लोक में लोप हो गया है। उसी प्राचीन योग को आज मैंने तुमसे कहा क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो—यह रहस्य अति उत्तम है॥

अर्जुन ने कहा कि तुम्हारा जन्म तो सूर्य से पीछे हुआ है फिर मैं कैसे जानूं कि तुमने इस को पहिले कहा ?

कृष्णने उत्तर दिया कि तुम्हारा और हमारा जन्म तो

बहुत बेर हुआ है वह सब मुझको तो ज्ञात है किन्तु तुम को नहीं मालूम है। यद्यपि मैं अज अविनाशी और प्राणियों का ईश्वर तो हूं परन्तु अपनी प्रकृति के वश अपनी माया द्वारा उत्पन्न हुआ करता हूं। जब २ धर्म की न्युनता और अधर्म का बाहुल्य होता है तब २ मैं साधुओं के त्राण और पापियों के नाश और धर्म की संस्थिति के हेतु अव· तार लेता हूं। जो लोग मेरे जन्म और कर्म को वास्तविक अलौकिक जानते हैं इस शरीर को परित्याग कर फिर संसार में नहीं आते वरन मेरे में लीन हो जाते हैं। राग भय और क्रोध से रहित, मन्मय, मेरेही आश्रित, ज्ञान और तपस्या से पवित्र बहुत लोग मेरे को प्राप्त होते हैं और सब मेरे ही पथ के अनुगामी होते हैं किन्तु जो मुझ को जैसे मिलता है मैं उसको उसी प्रकार ग्रहण करता हूं। इसलोक में कर्म सिद्धि के चाहने वाले देवता की आराधना करते हैं उनकी कामना वैसेही सिद्धि होती है। यद्यिपि मैं अकरता और अव्यय हूं किन्तु चारों वरणों को उनके गुण कर्म विभाग के सहित मैंही ने रचा है। कर्म मुझ में लिपटता नहीं और न मैं उसके फलकी इच्छा रखता, जो मुझको ऐसा जानते हैं उनको कर्म बंधन नहीं होता। ऐसा विचार कर प्राचीन मोक्ष के चाहने वालों ने कर्म किया तुमको भी उचित है कि उन्ह

की भांति कर्म करो। कर्म क्या है और अकर्म क्या है इस के जानने में पण्डितों की बुद्धि भी चक्कर में रहती है इस लिये तुम से मैं कर्म ज्ञान कहूंगा जिसको जान कर तुम अशुभ से बचो। कर्म, विकर्म और अकर्म तीनों को जानना चाहिये इनकी गती बड़ी सघन है। जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखे वह मनुष्यों में बुद्धिमान और सब कर्म करने वाला योगी कहाता है। जिसके सब कर्म कामना से रहित और ज्ञानाग्निदग्ध होवे हैं उसको बुद्धिमान लोग पंडित कहते हैं। जो मनुष्य कर्म फल के संग को त्याग, नित्यतृप्त और निराश्रय होकर कर्म करता है वह मानो कुछ नहीं करता। कामना रहित, चित्तात्माजित और सर्वपरिग्रहरहित जो केवल शरीर के हेतु कर्म करता है वह पाप को प्राप्त नहीं होता। स्वल्प-संतुष्ट, द्वंद्वातीत, मत्सर रहित और सिद्धि और असिद्धि में सम रह कर जो कर्म करता है वह इस के बंधन में नहीं फंसता। संगत्यागी योगी जिस का चित्त ज्ञान में स्थित रहता है और जो यज्ञही के हेतु कर्म करता है उसके सब कर्म विलीन हो जाते हैं। जिस का ब्रह्मही स्रुवा है, ब्रह्मही हवि है और जो ब्रह्माग्नि में ब्रह्मही द्वारा हवन होना समझता है उस ब्रह्मकर्म समाधि वाले को ब्रह्मही प्राप्त होता है। और योगी देवता सम्बन्धी यज्ञ को

उपासना करते हैं, दूसरे यज्ञ को यज्ञ द्वारा ब्रह्माग्नि में हवन करते हैं। उनसे भिन्न श्रवणादि इन्द्रियों को संयमाग्नि में होमते हैं, और और दूसरे शब्दादि विषयों को इन्द्री रूपी अग्नि में हवन करते हैं। इनसे अन्य सब इन्द्रियों के कर्म और प्राण के कर्म को ज्ञान से दीपित आत्मसंयम नाम योगाग्नि में होमते हैं। इनसे भी भिन्न विचार रूप प्रसंशितव्रतवाले यती द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, वा वेदपाठ और तत्त्व यज्ञ के करने वाले हैं। कोई प्राणवायु को अपान में और अपान को प्राण में होमते हैं, और प्राण अपान दोनों को एक कर प्राणायाम में तत्पर रहते हैं। कितने योगी नियताहार हो कर प्राण को प्राण में होमते हैं — ये सब यज्ञ करने वाले और यज्ञ करके क्षीणपाप हैं। जो यज्ञके अवशिष्ट भाग अमृत को भोजन करने वाले हैं वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। जो यज्ञ नहीं करते उनको इस लोक में तो सुख हुई नहीं परलोक कहां से मिलेगा। इस भांति बहुत प्रकार के यज्ञ वेद द्वारा कहे गये, तुम इन सब को कर्मज समझो तो तुमारी मुक्ति होगी। हे अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है, सम्पूर्ण कर्म ज्ञान के अन्तर्गत हो जाते हैं। यह ज्ञान तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों द्वारा तुम को प्राप्त होगा जब तुम उन से दण्डवत प्रणाम और सेवा करके पूछोगे। उस को जान कर

फिर ऐसे मोह में न पड़ोगे वरन उस ज्ञान द्वारा सब प्राणियों को अपने में और मेरे में देखोगे। यदि तुम सब पापियों से अधिक पाप करने वाले हो तो भी इस ज्ञान नौका द्वारा दुःख समुद्र के पार हो जाव गे। जैसे प्रचण्ड अग्नि ईंधन को भस्म करती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म करती है। इस लोक में ज्ञानयज्ञ से बढ़ कर दूसरा पवित्र पदार्थ नहीं है। जिस ने योग से योग्यता पाई है वह कुछ दिनों के अनन्तर स्वयं उस ज्ञान को अपनी आत्मा में देखने लगता है। श्रद्धावान, और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है और ज्ञान प्राप्त करलेने के अनन्तर शीघ्रही शांति को प्राप्त करता है। अज्ञानी श्रद्धाहीन और संशयात्मा का तो नाश होता है न उसको इस लोक में सुख मिलसक्ता और न दूसरे लोक में। जिस किसी ने योग द्वारा कर्म का त्याग किया, और ज्ञान द्वारा संशय रहित हो गया और शम दम आदि में तत्पर हो गया है उसको कर्म नहीं बांधते। इस लिये इस अपने हृदयस्थ अज्ञानसंभूत संशय को ज्ञान असि द्वारा काट कर उठो और कर्म योग में युक्त हो॥

॥ पंचम अध्याय ॥

सन्यास योग।

अर्जुन ने कहा कि तुमने कर्म सन्यास और कर्म योग दो कहा इस में से जो श्रेष्ट हो वह निश्चय करके बतावो॥

कृष्ण ने कहा कि सन्यास और कर्म योग दोनोंही श्रेष्ट हैं। किन्तु सन्यास से कर्म योग बढ़ कर है। सन्यासी उस को कहना चाहिये जो न द्वेष करे और न कुछ इच्छा रक्खे, निर्द्वंद हो, वही सुख से बन्धन से छूटता है। सांख्य और योग को केवल अज्ञानी लोग पृथक २ मानते हैं न कि पंडित। इन दोनों में से एक का भी भले प्रकार अनुष्ठान करने वाला दोनों के फल को पाता है। सांख्य से जो पद मिल सक्ता है वही योग से भी मिल सक्ता है। इन दोनों को जो एक जानता है वही डिठार कहाता है। बिना योग के सन्यास नहीं मिल सक्ता और योगयुक्त मुनि को ब्रह्म शीघ्र मिलता है। योगयुक्त, विशुद्धात्मा, जितात्मा, जितेन्द्रिय और सर्व प्राणियों के आत्मा को अपने आत्मा के समान जानने वाला कर्म करता है पर उस में लिप्त नहीं होता। जो यह समझते हैं कि इन्द्रियां अपने विषयों में वर्तती हैं वेतत्त्वज्ञानी योगी अपने देखने, सुन्ने, छूने, सूंघने, खाने, चलने, सोने, सांसलेने, बोलने, छोड़ने, ग्रहण करने, और आंख खोलने और

बन्द करने की यही मानते; हैं कि : मैं नहीं करता। अपने कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके और संग परित्याग जो कर्म करता है वह पाप में लिप्त नहीं होता जैसे पानी कमल पत्र में। योगी लोग मन वच काय और इन्द्रियों के संग परित्याग अपनी आत्मा की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं। योगी कर्मफल को त्याग कर सदा के लिये शान्ति को पाता है किन्तु अयोगी इच्छा के द्वारा फल में आसक्त हो कर बंध जाते हैं। स्वाधीन देही सब कर्मों को मन से त्याग सुख से नवद्वार वाले पुर में रहता है, न कुछ करता है न कराता है। प्रभु, लोक के कर्तृत्व वा कर्म वा कर्मफल के संग, को नहीं रचता केवल स्वभाव वर्तता है। न वह किसी का पाप वा पुण्य लेता है। अज्ञान से आहत ज्ञान ही जीव को मोहित करता है। जिसका अज्ञान ज्ञान द्वारा नाशित हो जाता है उस का वह ज्ञान सूर्यवत उस परमात्मा को प्रकाश कर देता है। जिस की बुद्धि उस में है, जिस की आत्मा उस में है, जिसकी निष्ठा उस में है और जो उसी को परम गति का स्थान समझता है, वह ज्ञान द्वारा पाप से रहित हो कर उस स्थान को जाता है जहां से पुनरागमन नहीं होता। समदर्शी पण्डित विद्या विनय संयुक्त ब्राह्मण, और गाय, हस्ती, कुत्ता और चांडाल को सम समझते हैं। जिसका मन समता में

स्थित है उस ने इस लोक में सब जीत लिया है। ब्रह्म निर्दोष और सम है इस लिये उसकी स्थिति ब्रह्म में है। स्थिरबुद्धि, मोहरहित, ब्रह्म को जानने वाला और ब्रह्म में स्थित प्रिय को पाकर हर्षित नहीं होता और न अप्रिय को पाकर उद्विग्न होता है। जो विषय में आसक्त नहीं है वह अपनी आत्माही में सुख पाता है औरवही ब्रह्मयोग-युक्तात्मा अक्षयसुख को पाता है। स्पर्श से उत्पन्न भोग दुख के उत्पत्ति स्थान हैं और आदि अन्त वाले हैं, ज्ञानी लोग उस में नहीं रमते। काम क्रोध जनित वेग को जो पुरुष इस जन्म में ही शरीर छूटने के पहिले सह सक्ता है वह योगी और सुखी है। जिस की अन्तरात्मा सुखी है और जो अन्तरात्मा में क्रीड़ामान और जिस का अन्तःकरण ज्योतिमय है वही योगी ब्रह्मनिर्वाण मोक्ष को पाता है। पापरहित, संशयशून्य, जितेन्द्रिय और सब प्राणियों के हित में रत ऋषि लोग ब्रह्मनिर्वाण को पाते हैं। काम क्रोध से रहित, जितान्तःकरण आत्मा के जानने वाले को ब्रह्म निर्वाण चारो ओर वर्तमान रहता है। बाहर के विषयों को बाहर रख कर और दोनों आखों की दृष्टि को भहुंओं के बीच में करके और प्राण और अपान वायु को, जो नाक के भीतर चलती है, सम कर के इन्द्रिय और मन और बुद्धि को वश कर इच्छा भय और क्रोध से रहित सदा योगी

कहाता है। यज्ञ और तप के भोक्ता और सब लोक का महेश्वर और सर्व प्राणियों का मित्र मुझ को जान कर शान्ति को प्राप्त होता है॥

॥ षष्टम अध्याय ॥

अभ्यास योग।

भगवान ने कहा कि कर्म के फल के आश्रय को परित्याग जो उचित कर्म को करता है वही सन्यासी और वही योगी है न निग्नि और न वैक्रिया वाला। हे अर्जुन! जिस को सन्यास कहा उसी को योग जानो। बें संकल्पकाम त्याग योगी नहीं हो सक्ता! योगारोहण की इच्छा करने वाले का कर्म ही हेतु कहाता है और योगारूढ़ण का हेतु शान्ति है। जब सब संकल्पों को परित्याग योगी न इन्द्रियों के विषय में और न कर्म में आसक्त होता है तब योगारूढ़ कहाता है। आत्मा का उद्धार आत्मा से करे, आत्मा को दुःखी न करे क्योंकि आत्मा आत्मा का बंधु और आत्माही आत्मा का शत्रु भी है। जिस का आत्मा आत्मा से जाना गया है उसका आत्मा आत्मा का बंधु है और जिसने आत्मा को नहीं जीता है अर्थात अनात्मन है उसका आत्मा शत्रु की भांति वैर रखता आत्मजित। है

प्रशांतपुरुष का आत्मा शीत, ऊष्ण, सुख, दुःख, और मान अपमान में परम सावधान रहता है। ज्ञान विज्ञान से तृप्त, निर्विकार और जितेन्द्रिय और ढेला, पत्थर और सोना को समान जानने वाला योग्य योगी कहाता है। सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने वाला, बंधु, साधु और पापियों में सम बुद्धि रखने वला श्रेष्ट कहा जाता है। योगी को चाहिये कि सदैव चित्तात्माजित, आशारहित, परिग्रहशून्य, अकेला और एकान्तस्थित होकर अपने को योग युक्त करे। पवित्र देश में किसी ऐसे स्थान पर जो न बहुत ऊंचा हो और न बहुत नीचा हो पहिले कुशा उस पर मृगचर्म तिस पर वस्त्र बिछा कर स्थिर आसन लगावै और चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं का निग्रह कर के एकाग्रमन होकर अपने आत्मा की शुद्धि के लिये उस पर बैठ कर योग करे। शरीर ग्रीवा और शिर को सम और अचल स्थापन करके केवल अपनी नाक के अग्र भाग को देखता रहै, दिशावों की ओर न देखै। शान्तात्मा, निर्भय, ब्रह्मचर्य में स्थित मन को रोक कर मेरे में चित्त लगा कर और मुझी को परम मान बैठे। नियतमानस योगी सदा अपने आत्मा को इस प्रकार युक्त कर परम निर्वाण शांति और मेरी स्थिति को पाता है। बहुत खाने वाले के लिये योग नहीं है और न एकान्त

न खाने वाले के लिये, न बहुत सोने वाले के लिये और न न सोने वाले के लिये इस्न योग्य आहार विहार करने वाले के लिये। कर्म में चेष्टा करने वाले और मित सोने और जागने वाले का सब दुःख इस योग द्वारा नाश हो जाता है। जब एकाग्र चित्त मनुष्य आत्मा में स्थित होता है और सर्व कामनाओं से इच्छा रहित हो जाता है तब योगी कहाता है। निरुद्धचित्त योग में युक्त योगी की उपमा यह कहीगयी है कि जैसे वायुरहित स्थान में दीप चालित नहीं होता उसी प्रकार ध्यानस्थित योगी नहीं हिलता। जिस समय योग द्वारा निरुद्ध चित्त शान्त होता है और आत्मा से आत्मा को देखता अपने में प्रसन्न होता है और उस परम सुख को जो इन्द्रियों से अतीत केवल बुद्धि द्वारा ग्राह्य है तत्त्व से जान कर और जिस में स्थिर हो विचलित नहीं होता; जिस को पाकर उससे बढ़ कर पाने योग्य दूसरे किसी पदार्थ को नहीं समझता और जिस में स्थित हो कर भारी से भारी दुःख पड़ने पर भी नहीं डिगता उस दुःख के संयोग से वियोग को योग कहते हैं। वह योग निश्चय निर्वेद चित्त से योक्तव्य है। संकल्प जनित सब कामनाओं को पूर्ण रूप से त्याग मन से इन्द्रियों के समूह को सब ओर से रोक कर धीरे २ धीर बुद्धि को विश्राम दे और आत्मा में मन को स्थित कर के किसी ओर

बात की चिन्ता न करे। जहां २ चंचल और अस्थिर मन जाता हो वहां से रोक कर आत्मा में स्थित करे उस प्रशान्त मन शांत रजो गुण, ब्रह्म रूप पाप रहित योगी को परम सुख प्राप्त होता है। पाप रहित योगी इस प्रकार सदा मन को युक्त करता अनायास ब्रह्मानुभव रूप अत्यन्त सुख को पाता है। योगयुक्तात्मा पुरुष समदर्शी अपने को सब में और सब को अपने में स्थित देखता है। जो मुझ को सब में और सब को मेरे में देखता है मैं उससे अलग नहीं हूं और न वह मुझ से अलग है। एकत्व में स्थित जो योगी मुझ को सब प्राणियों में स्थित मानता है वह सब अवस्था में वर्त्तमान भी मेरे में वर्त्तता है। हे अर्जुन! जो योगी अपने समान सुख और दुःख को सब में देखता है वह श्रेष्ठ माना जाता है॥

अर्जुन ने कहा कि हे मधुसूदन! समता सहित जो योग तुमने कहा है चंचलता के कारण मैं उस की चिरस्थायी मन को नहीं समझता। चंचल मन दृढ़ बल से क्षोभ करता है मैं इस का और वायु का रोकना एक समान दुष्कर समझता हूं॥

भगवान ने कहा कि निश्चय मन चलायमान और दुर्निग्रह है किन्तु अभ्यास और वैराग्य से रोका जा सक्ता है। अजितात्मा पुरुष को योग दुर्लभ है परन्तु जितात्मा को यत्न करने से उपाय द्वारा प्राप्त हो सक्ता है॥

अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण! श्रद्धायुक्त अजितात्मा पुरुष

जिस का मन योग में नहीं लगा और जिसने सिद्धि नहीं पायी उसकी क्या गति होती है ? क्या दोनों से रहित निराश्रय, और ब्रह्मपथ में विमूढ़ छिन्न बादल की भांति विलाय तो नहीं जाता ? इस मेरे संशय को तुम्हीं दूर कर सकते हो दूसरा इसके योग्य नहीं मिल सक्ता ॥

भगवान ने कहा कि हे अर्जुन ! उसका नाश न इस लोक में हो सक्ता है न परलोक में, कल्याण कारी कभी दुर्गति को नहीं पहुंचता । पुण्यलोक में पहुंच कर और अनेक वर्षों वहां रह कर योगभ्रष्ट फिर सुन्दर श्रीमंत के घर जन्म लेता है वा धीमान योगियों के कुल में उत्पन्न होता है । किन्तु यह अन्तिम जन्म इस लोक में दुर्लभ है । वहां तो वह अपने पूर्व दैहिक बुद्धि संयोग को पाकर फिर मोक्ष के लिये यत्न करसक्ता है क्योंकि पूर्व अभ्यास के कारण वह परवश उसी ओर खिंचा जाता है । योग के जानने की इच्छा करने वाला शब्दब्रह्म को डांक जाता है । यत्न करने वाला योगी पाप रहित अनेक जन्मों करके सिद्धि को पाये हुए फिर परम गति को पाता है । तपस्वी और ज्ञानी और कर्म करने वाले से योगी बढ़ कर है अतएव हे अर्जुन ! तुम योगी हो । सम्पूर्ण योगियों में भी जो योगी श्रद्धावान और मेरे में आत्मा रखने वाला और मेरी सेवा करने वाला है वह मुझ को प्रिय है ॥

सप्तम अध्याय ॥

ज्ञान विज्ञान योग ।

हे अर्जुन ! मुझ में मन लगाने वाले, मेरे आश्रित, योग युक्त, संशयरहित तुम मुझ को जिस प्रकार जान सक्ते हो सो आगे कहता हूं सुनो । मैं उस विज्ञान सहित ज्ञान को तुम से कहता हूं जिस को जानकर फिर इस लोक में कोई बात जानने योग्य नहीं रह जायगी । सहस्रों मनुष्यों में से कोई मोक्ष के लिये यत्न करता है और इन यत्न करने वालों में से कोई मुझ को तत्त्व पूर्वक जानता है। भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये मेरी आठ भिन्न २ प्रकृति हैं । इनको अपरा अर्थात् अश्रेष्ट प्रकृति कहते हैं और मेरी दूसरी जीवभूत प्रकृति को परा अर्थात् श्रेष्ट कहते हैं जिस से यह जगत स्थित है। यह सब प्राणियों की उत्पति स्थली हैं और मैं सम्पूर्ण जगत का उत्पन्न और लय करने वाला हूं। धनजय यह जगत माला की गुरियों की भांति गुहा है इसी से मेरे से न्यारा कोई नहीं है । मै जल मैं रस, सूर्य चन्द्र मैं प्रकाश, वेदो मैं ओंकार, आकाश में शब्द और नरों में पौरुष हूं, पृथ्वी में गंध और अग्नि में तेज, सब प्राणियों में प्राण और तपस्वियों में तप हूं। मुझ को सब प्राणियों का बीज और बुद्धिमानो की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज समझो । बलवानों का मैं

काम राग रहित बल हूं और प्राणियों में कामना हूं किन्तु धर्म के विरुद्ध नहीं। सत रज तम भाव मेरे से है, मैं उन में नहीं हूं वरन वे मेरे में हैं। यह जगत इन तीनों करके मोहित है मुझ अविनाशी को इस से बढ़ कर नहीं जानता। यह मेरी माया दैवी और दुस्तर है, जो मेरी शरण आता है, वही, इस के पार जा सक्ता है। पापी और अविवेकी पुरुष जिनका ज्ञान माया से नष्ट हो गया है और जिनका असुर भाव हो गया है वे मेरी शरण नहीं आते। चार प्रकार के पुण्य कर्म करने वाले मुझको भजते हैं अर्थात पीड़ित, ज्ञान चाहने वाले, धनकी इच्छा करने वाले और ज्ञानी। इन में से नित्ययोगयुक्त मेरा भक्त ज्ञानी पुरुष श्रेष्ट है। मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्यारा हूं और ज्ञानी मेरा प्यारा है। हैं तो उत्तम सब किन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्माही है, वह युक्तात्मा मेरे में युक्त है जो परम पथ है। अनेक जन्मों के अन्त में ज्ञानवान पुरुष मेरे को मिलता है। "वासुदेवही सब है" ऐसा जानने वाला महात्मा दुर्लभ है। कामनाओं से विमोहित पुरुष दूसरे देवतों को भजते हैं और अपनी प्रकृति व वासना के वशीभूत हो कर वैसेही नियमो का आश्रय लेते हैं। जो २ भक्त जिस २ देवता की पूजा की श्रद्धा करता है, मैं उस की उसी श्रद्धा को स्थिर करता हूं। वह उसी श्रद्धा में युक्त

हो कर अपने इष्ट देवता का आराधन करता है। और उसी से मेरेही नियमित वांछित फल को पाता है। किन्तु उन अज्ञानियों का वह फल नाशवान है। वे देवपूजक देवतों को प्राप्त होते और मेरे भक्त मुझ को प्राप्त होते हैं। बुद्धि रहित लोग मुझ अप्रकाशमान और सब से श्रेष्ट भाव वाले अविनाशी को अज्ञान वश अन्य देवतो के समान प्रकाशमान मानते हैं। ये अविवेकी यह नहीं समझते कि मैं अज और अविनाशी योगमाया की ओट के कारण सब को प्रगट नहीं हूं। हे अर्जुन! मैं गत वर्तमान और अनागत प्राणियों को जानता हूं किन्तु मुझे तो कोई नहीं जानता। इच्छा द्वेष से उत्पन्न द्वंद्व मोह के कारण प्राणी संसार में भूले रहते हैं पर पुण्य कर्म के करने वाले दृढ़व्रत मनुष्य जिनके पाप छूट गये हैं मुझ को भजते हैं। जिसने जरा मरण से छूटने के लिये मेरा आश्रय लेकर यत्न किया उसने उस पूर्णब्रह्म अध्यात्म और सब कर्म को जाना। जो मुझ को अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित जानता है वह पुरुष नित्य मेरे में चित्त लगाये हुए अन्त काल में भी मुझ को जानता है।

अष्टम अध्याय ।

अक्षर ब्रह्म योग ।

अर्जुन ने पूछा हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म कौन है, अध्यात्म कौन है और वह कर्म क्या है, अधिभूत किस को कहते हैं और अधिदैव कौन कहाता है? और इस देह में अधियज्ञ कौन है और कैसे रहता है और अन्तकाल में आप मन के वश करने वालों से कैसे जाने जाते हो?

कृष्ण ने कहा कि अविनाशी परमात्मा ब्रह्म है उस का स्वभाव जो देह को प्रकाशित करता है अध्यात्म है और प्राणियों के उत्पन्न करने वाली सृष्टि को कर्म कहते हैं। नाशमान भाव को अधिभूत कहते हैं और हिरण्यगर्भ पुरुष अधिदैव है और इस देह में अधियज्ञ मैं हूं। अन्त काल में जो मुझ को स्मरण करता हुआ देह त्याग करके पयान करता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है इस में कुछ सन्देह नहीं।-अन्तकाल में जो जिस भाव को स्मरण करता उसी की चिन्ता में शरीर छोड़ता है वह उसी को प्राप्त होता है, अतएव सब कालों में मुझ को स्मरण करो और युद्ध करो, मेरे में मन बुद्धि अर्पण करने वाला निसन्देह मुझ को पावेगा। अभ्यासयोग-युक्त और जिस का चित्त दूसरी ओर नहीं जाता ध्यान करता २ ज्योतिस्वरूप परपुरुष को प्राप्त करता है।

जो पुरुष, सर्वज्ञ, पुरातन, सर्वनियन्ता, सूक्ष्म से सूक्ष्म, सब का प्रतिपालक, अचिन्त्यरूप, सूर्य सम प्रकाशक, अविद्यारहित परम्पुरुष को स्मरण करता भक्तियुक्त अचलमन, योग बल के द्वारा दोनो भूवों के बीच प्राण को प्रवेश करके देह त्याग करता है, वह अवश्य उस परम देदिप्यमान पुरुष को प्राप्त करता है। वेद जानने वाले जिसको अविनाशी कहते हैं, बीतराग सन्यासी जिस में प्रवेश होते हैं और जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य किया जाता है उस प्राप्तियोग्य पद को संक्षेप से तुम से कहूंगा। इन्द्रियों के सब द्वारों को बंद करके मन को हृदय में सम्पुट कर अपने प्राण को मस्तक में धारण कर योग में स्थित "ओम्" इस एक अक्षर ब्रह्म को उच्चारण कर और मुझ को स्मरण करता हुआ जो देह को त्याग पयान करता है वह परम गति को पाता है। मेरे सिवाय दूसरे में चित्त न लगाने वाला जो पुरुष निरन्तर सर्वदा मुझको स्मरण करता है ऐसे योगी को मै सुलभ हूं। महात्मा लोग जो परम सिद्धि को पाये हुए हैं मुझ को पाकर पुनर्जन्म को नहीं पाते जो दुःख का घर है। ब्रह्म लोकादि जितने लोक हैं सब लौटने वाले हैं किन्तु मुझको पा लेने वाला फिर जन्मना नहीं जानता। जो लोग ब्रह्मा के सहस्त्रयुग पर्यन्त दिन को और सहस्त्रयुग पर्यन्त रात्रि को जानते

हैं वे दिन रात के जानने वाले अर्थात दूरदर्शी कहाते।
ब्रह्मा के दिन के समय सब व्यक्त अव्यक्त से प्रगट होते हैं
और उन की रात्रि होने पर फिर सब उसी अव्यक्त में लीन
हो जाते हैं और हे अर्जुन! यही प्राणीसमूह परवश की
भांति इसी प्रकार बारम्बार प्रगट होकर रात्रि आने पर
लीन होता और दिन आने पर फिर उत्पन्न होता है।
तत्पश्चात इस व्यक्त से भिन्न अन्य जो सनातन अव्यक्त है वह
प्राणियों के नाश से विनशित नहीं होता। "वह अव्यक्त
ब्रह्म अविनाशी है" इसी को परम गति कहते हैं जिस
को पाकर फिर कोई नहीं लौटता — वही मेरा परम धाम
है। हे अर्जुन! यह सर्वभूत प्राणी जिस में स्थित है और
जिस करके यह जगत विद्यमान है वह परमपुरुष अनन्य
भक्ति द्वारा प्राप्य है। अब मैं तुम से उस काल को बताऊंगा
जिस समय योगी जाकर फिर नहीं लौटते और जब लौटते
हैं। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और छ महीना उत्तरायण
के समय पयान करने वाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को पहुंचते हैं।
धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और छ महीना दक्षिणायण में पयान
करके योगी स्वर्ग के फल को पाकर लौट आता है। शुक्ल
कृष्ण जगत के सनातन नियमित मार्ग हैं, एक से जाने
वाले की मुक्ति होती है और दूसरे से जाने वाला लौट
आता है। इन मार्गों को जानने वाला योगी कभी मोहित

नहीं होता अतएव तुम सब काल में योग युक्त हो। वेदों में, यज्ञों में, तपो में, दानों में जो फल कहा गया है योगी इन सब को जान कर और इन को अतिक्रम करके सर्वोत्तम ब्रह्म लोक को पाता है॥

नवम अध्याय।

राज विद्या राज गुह्य योग।

भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! तुम दोष प्रगट करने वाले नहीं हो इस लिये तुम से ज्ञान विज्ञान सहित उस गुप्त भेद को कहता हूं जिसको जानकर अशुभों से बचोगे। यह ज्ञान विद्यावों में श्रेष्ट, अत्यन्त गुप्त, पावन, उत्तम प्रत्यक्षफल देने वाला धर्मयुक्त अति सुख से करने योग्य और अबिनाशी है। इस धर्म में श्रद्धा न करने वाले पुरुष मुझको न पाकर मृत्यु रूप संसार मार्ग में भटकते रहते हैं। यह सर्व जगत मेरे अप्रगट मूर्ति से व्याप्त है, सब प्राणी मेरे में स्थित हैं मैं उन में स्थित नहीं हूं और फिर प्राणी मेरे में स्थित भी नहीं हैं इस मेरे विलक्षण ऐश्वर्य योग को देखो। मेरा आत्मा प्राणियों का उत्पन्न करने वाला है उन में स्थित नहीं है और उनका पालन करने वाला भी है। ऐसा समझो कि जैसे वायु आकाश में स्थित रहती है किन्तु सब जगह फिरा करती है उसी प्रकार सब प्राणी मेरे में

स्थित रहते हैं। हे कौन्तेय! सब प्राणी कल्प के अन्त में मेरी प्रकृति में लय हो जाते हैं तदनन्तर कल्प के आदि में मैं उन्हें फिर उत्पन्न करता हूं। अपनी प्रकृति के आश्रय से मैं बारंबार इस सम्पूर्ण परवशप्राणी समूह को उनकी प्रकृति के अनुसार उत्पन्न करता हूं किन्तु इस कर्म में बंधता नहीं उदासीन और संगरहित रहता हूं। मेरी अध्यक्षता से प्रकृति चर और अचर को उत्पन्न करती है इस कारण जगत में लौट फेर लगा रहता है। मूढ़ लोग इस मानुषी तन में मेरी अवज्ञा करते हैं मेरे प्राणियों के महेश्वर परम भाव को नहीं जानते। उनकी आशा और उनके कर्म और ज्ञान वृथा हैं और उनका चित्त ठिकाने नहीं है, वे राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति के आधीन हैं किन्तु महात्मा लोग मेरी दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर प्राणियों के आदि और अविनाशी जानकर एकाग्रचित्त से मुझ को भजते हैं। नित्य योगी जो व्रत में दृढ़ हैं भक्ति द्वारा निरन्तर मेरी कीर्त्ति को गाते हुए और मुझ को नमस्कार करते हुए और यत्न करते हुए मेरी उपासना करते हैं और कितने ज्ञानयज्ञ द्वारा एकत्व और पृथक भाव से मुझको विश्वरूप और और अनेक रूप जान कर पूजते और मेरी उपासना करते हैं। मैं ही श्रौत और स्मार्त यज्ञ हूं, मैं पितरों का और मनुष्यों का अन्न अर्थात् खाकन्ना हूं,

मैंही मन्त्र हूं, मैं ही हवि हूं और मैं ही अग्नि हूं और मैं ही हवन हूं। इस जगत का मैं ही पिता हूं, मैं ही माता हूं, मैं ही कर्मफल का देने वाला हूं और उस का पितामह भी मैंही हूं। मैं ही ओंकार और ऋगादि तीनों वेद हूं, मैं ही सब जानने योग्य वस्तु और पवित्र हूं। मैं गति हूं, भर्त्ता हूं, प्रभु हूं, निवास हूं शरण हूं, और सुहृद हूं। मैं ही उत्पन्न करने वाला, नाश करने वाला, स्थान, निधान और अविनाशी बीज हूं। आतप भी मैं हूं और मैंही वृष्टि और अनावृष्टि का कारण हूं; मैं ही अमृत और मृत्यु और मैं ही सत और असत भी हूं। तीनों वेद के जानने वाले, सोम पान करने वाले और निष्पाप पुरुष मुझ को यज्ञों से पूज कर स्वर्ग की गति को चाहते हैं, वे पवित्र सुरेन्द्र लोक को पाकर स्वर्ग में दिव्य देवभोग को भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर पुण्यक्षीण होने पर मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं और तीनों वेद के धर्म को पाकर कामकामना के वश आवागमन को प्राप्त होते हैं। जो अनन्य मन होकर मेरी चिन्ता और उपासना करते हैं मैं उन नित्ययोगियों को योगक्षेम प्राप्त कराता हूं। जो भक्त श्रद्धा सहित दूसरे देवताओं को पूजते हैं वे भी मुझी को पूजते हैं किन्तु विधिविपरीत। मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूं; जो मुझ को वास्तविक नहीं

जानते वेही चूकते हैं । देवभक्तिरत देवतों को प्राप्त होते हैं; पितृव्रत में रत पितरों को, तत्वों की पूजा करने वाले तत्वों को, वैसेही मेरी पूजा करने वाले मुझ को पहुंचते हैं। जो पुरुष भक्ति से पत्र, पुष्प, फल या जल मुझ को देता है उस शुद्धबुद्धि की भक्ति से समर्पित उस सामग्री को मैं ग्रहण करता हूं। अतएव जो तुम करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान और तप करते हो सब मेरे अर्पण करो इस प्रकार शुभाशुभ कर्मों के बन्धन से छूटोगे और तदनन्तर सन्यास योग युक्त होकर मुझको पावोगे। मैं सब प्राणियों में सम हूं, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, जो मुझको भक्ति से भजते हैं वे मेरे में और मैं उन में हूं। यदि दुराचारी भी अनन्य-मन हो कर मुझ को भजे तो साधु ही मानने योग्य है क्योंकि उस को पूरा निश्चय तो है और वह शीघ्रही धर्मात्मा हो कर शांति पाता है। हे अर्जुन! तुम निश्चय जानो कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता। स्त्री हो, वैश्य हो वा शूद्र हो, कोई पापी हो जो निश्चय कर के मेरा आश्रय लेता अथवा शरणागत होता है वह भी परमगति को पाता है फिर जो पवित्र ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भक्त हैं उनकी मोक्ष में क्या संदेह है? इस अनित्य दुःखमय लोक को पाकर मुझ को भजो, मेरे में मन लगावो,

मेरी भक्ति करो, मेरीही पूजा करो और मुझको नमस्कार करो; इस प्रकार युक्त होकर मेरे ही पाने की इच्छा करो तो मुझको पावोगे ॥

दशम अध्याय।

विभूति योग।

भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! मेरे श्रेष्ट वचन को फिर सुनो; तुम मेरे प्रिय हो, अतएव तुमारे हित के लिये कहता हूं। देव गणों और महर्षियों ने मेरी उत्पत्ति को नहीं जाना क्योंकि मैं उनका आदि कारण। जो हूं मुझको अज और अनादि और संसार का स्वामी जानता है वही मोहरहित पुरुष सब पापों से छूटता है। वुद्धि, ज्ञान, असंम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पति, नाश, भय, त्रास, अभीरुता, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अयश इत्यादि प्रथक २ प्राणियों के भाव मेरेही से होतें हैं। पहिले सात महर्षि उनके अनन्तर चार ऋषि और चौदह मनु मेरे ही प्रभाव और मानस से उत्पन्न हुए उन्हीं का यह सन्तान लोक में फैला है। जो पुरुष इस मेरी विभूति और योग को तत्व से जानता है वह अचल-योगयुक्त होता है इस में संदेह नहीं। मैं सब का उत्पन्न करने वाला हूं और मुझी से सब की प्रवृत्ति होती है ऐसा

मान कर ज्ञानी मुझ को भजते हैं। मेरे में चित्त और प्राणेन्द्रिय लगाने वाले परस्पर समझते और समझाते तृप्त होते हैं और आनन्द करते हैं। इन आसक्तचित्त और प्रेमपूर्वक सेवा करने वाले भक्तों को वह ज्ञानयोग देता हूं जिस के द्वारा वे मुझको प्राप्त करते हैं। दया करके उन के आत्मा में स्थित हो कर प्रकाशमान ज्ञान रूपी दीपक द्वारा उन के अज्ञानजनित तम को नाश करता हूं॥

अर्जुन ने कहा कि तुम परब्रह्म हो, परमधाम हो, परमपवित्र हो, सब ऋषि और देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास तुमको अविनाशी, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अज और व्यापक कहते हैं और वही तुम आप भी कह रहे हो। तुम जो कहते हो मैं उस को सब सच मानता हूं; तुमारी उत्पत्ति को देव दानव कोई भी नहीं जानता। हे जगतपति पुरुषोत्तम! प्राणियों के उत्पन्न करने वाले और नियन्ता और देवतावों के देवता तुम आत्मा द्वारा अपने आपही आप को जानते हो। जिन दिव्य विभूतियों द्वारा तुम इन लोकों में व्याप्त हो रहे हो उनका सम्पूर्ण प्रकार से वर्णन तुम्हीं कर सक्ते हो। हे योगीश्वर! मैं तुमारी सदा चिन्ता कैसे करूं कि तुम को जानूं और किन २ भाव करके चिन्ता करूं? अपने योग और विभूति को फिर से कहो, इस अमृतरूप वाक्य के सुनने से तुष्टि नहीं होती।

भगवान ने कहा कि हे अर्जुन ! निश्चय मेरे विस्तार का अन्त नहीं है, अच्छा मैं अपनी प्रधान २ विभूतियों को विस्तार पूर्वक तुम से कहता हूं। मैं सर्व प्राणियों के हृदयस्थित आत्मा हूं और उन का आदि मध्य और अवसान हूं। मैं आदित्यों में विष्णु हूं, प्रकाशक वसुवों में रश्मिमय सूर्य हूं। मरुतों में मरीचि हूं और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूं; वेदों में साम वेद हूं; देवतों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और प्राणियों में चेतनाशक्ति हूं। मैं रुद्रों में शंकर, यक्ष राक्षसों में कुवेर, वसुवों में पावक और पर्वतों में मेरु हूं। पुरोहितों में प्रधान बृहस्पति, सेनापतियों में स्वामकार्तिक और जलाशयों में सागर हूं। महर्षियों में भृगु, स्वरों में एकाक्षर "ओंकार," यज्ञों में जप और स्थावरों में हिमालय हूं। वृक्षो में पीपल, देवर्षियों में नारद, गंधर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिलमुनि हूं। घोड़ों में अमृतोद्भव उच्चैःश्रवा, हाथियों में ऐरावत, मनुष्यों में नरपति, आयुधों में वज्र, गौवों में कामधेनु, सन्तान उत्पन्न करनेवालों में काम और सर्पों में वासुकी हूं। नागों में शेषनाग, जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा और शासन करनेवालों में यम हूं। दैत्यों में प्रह्लाद, गणकों में काल, मृगों में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूं। पवित्र करनेवालों में पवन, शस्त्रधारियों में परशु राम, मत्स्य जाति में मगर और नदियों में गंगा हूं।

सृष्टि को आदि अन्त और मध्य हूं और विद्याओं में ब्रह्म विद्या, वाद करनेवालों में फलसिद्धान्त, अक्षरों में अकार और समासों में द्वंद्व हूं । क्षय न होने वालों में काल और सब और देखने वाला ब्रह्मा भी मैंही हूं । हरनेवालों में मृत्यु, होनहारों का उद्भवस्थान और स्त्रियों में कीर्ति, लक्ष्मी, सरस्वती, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा भी मैंही हूं । साम वेद में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री, महीनों में मार्गशीर्ष (अगहन) और ऋतुओं में वसन्त हूं । छलकारियों में जुआ, तेजस्वियों में तेज, जय, व्यवसाय और सत्व वालों में सत्व हूं । वृष्णिवंशियों में वासुदेव, पांडवों में धनंजय, मुनियों में व्यास और पंडितों में शुक्राचार्य हूं । दमन करने वालों में दंड, जय की इच्छा करनेवालों में नीति, गोप्य वस्तुओं में मौन और ज्ञानवानों में ज्ञान हूं । सब प्राणियों का बीज भी मैंही हूं । सारांश संसार में चर अचर कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो मेरे विना हो । हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है मैंने तो यह संक्षेप विस्तार तुम से कहा । जो २ ऐश्वर्यवान लक्ष्मीवान वा बलवान प्राणी हैं उन सब को मेरे अंश से उत्पन्न जानो अथवा इतने विशेष ज्ञान से तुम को क्या प्रयोजन तुम यह समझो कि यह सम्पूर्ण जगत मेरे एक अंश से स्थित है ॥

एकादश अध्याय।

विश्वरूप दर्शन

अर्जुन ने कहा कि तुम ने जो यह परम गोप्य अध्यात्मनाम वचन मेरे पर अनुग्रह करके कहा उससे मेरा मोह जाता रहा। हे कमलाक्ष! मैंने तुम से प्राणियों की उत्पत्ति और लय विस्तार पूर्वक सुनी और अविनाशी महात्म्य भी सुना। हे ईश्वर! तुम ने अपने को जैसा वर्णन किया मैं तुमारे उस रूप को देखना चाहता हूं। यदि मुझको उस के दर्शन करने योग्य समझते हो तो उस अव्यय रूप को मुझको दिखाओ।

भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! अच्छा मेरे सैकड़ों और सहस्त्रों प्रकार के विचित्र और अनेक वर्ण और आकृति वाले रूप को देखो। सूर्य, वसु, रुद्र, अश्वनीकुमार, मरुत और और आश्चर्य जो पहिले न देखा हो देखो। इस मेरे शरीर में चर और अचर समेत कुल जगत को एकट्ठा और और २ जो कुछ देखना चाहते हो देखो। इस अपनी आंख से तो मुझको नहीं देख सकोगे अतएव मैं तुम को दिव्यनेत्र देता हूं उससे मेरे ईश्वरता के योग को देखो।

संजय ने कहा कि हे राजन ऐसा कह परम योगी कृष्ण ने अपना विश्वरूप अर्थात् विराट रूप अर्जुन को दिखाया

जिस में अनेक मुख, अनेक नेत्र और अनेक प्रकार के विचित्र दर्शन देख पड़े; अनेक उत्तम २ आभरण और अनेक सुसज्जित आयुध, अनेक प्रकार की माला और वस्त्र धारण किये और विचित्र अंगराग लगाये, सब आश्चर्य का स्थान अनन्त और सब ओर देखने वाला और प्रकाशमान, कि सहस्र सूर्य यदि एकही समय में उदय हों तो उस की द्युति के सदृश हो सकें। वहां उस देवों के देव के शरीर में सम्पूर्ण जगत अनेक भागों में विभक्त अर्जुन को देख पड़ा। तब अर्जुन ने विषमयापन्न और रोमांचित होकर हाथ जोड़ और सिर नवाय कहा कि हे देव देव! मैं तुमारे शरीर मे सम्पूर्ण प्राणियों के समूह को देखता हूं, देवतों को और कमल पर बैठे सामर्थवान ब्रह्मा को, सब ऋषियों और विलक्षण सर्पों को भी देखता हूं। मैं देखता हूं कि तुमारे अनेक भुजा, उदर, मुख और नेत्र हैं और तुमाराही अनन्त रूप सब ओर देख पड़ता है। और हे विश्वेश्वर! तुमारा अन्त मध्य और आरम्भ नहीं देख पड़ता। कि रीटधारी, गदाधर, चक्राधर, तेजमयरूप, तुमारा चारो ओर प्रकाशमान है। तुमारा रूप प्रचंड अग्नि और सूर्य की भांति चमकता है कि दृष्टि ठहर नहीं सक्ती। मेरे जान तुम परब्रह्म. अविनाशी, अचिन्त्य, विश्व के निधान, सनातन धर्म के रक्षक और सनातन पुरुष हो। तुम आदि अन्त

और मध्य रहित अनन्त बीज हौ, अनन्त बाहु हौ और सूर्य और चन्द्रमा तुमारे नेत्र हैं, प्रचंड अग्नि की भांति प्रज्वलित तुमारा मुख है और अपने तेज से संसार को तपाते हुए देख पड़ते हो। स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का अन्तर एक तुम्हो से व्याप्त है। तुमारे इस अद्भुत और तीव्र रूप को देख त्रिभुवन विकम्पित है, यह सुरसमूह डर के मारे हाथ जोड़कर स्तुति करते हुए तुमारे में प्रवेश करता है, और महर्षि और सिद्धों के समूह स्वस्तिवाचन करके अनेक स्तुतियों से स्तुति करते हुए तुमको देख रहे हैं। रुद्र आदित्य, वसु,साध्य, विश्वदेव, अश्वनीकुमार, मरुत, पितर, गंधर्व, यक्ष, असुर सिद्धसमूह विस्मित होकर तुम को देखते हैं। तुमारे बहुत मुंह, नेत्र, बाहु, जंघा, पैर उदर और कराल दाढवाले महत रूप को देखकर सम्पूर्ण लोक डरता है और मैं भी डरता हूं। आकाश छूते हुए प्रकाशमान अनेक वर्ण युक्त मुंह बाये हुए प्रज्वलित और विशाल नेत्र वाले तुम को देख कर मैं व्याकुल हूं धीर नहीं धारण कर सक्ता और न शांति प्राप्त होती है। तुमारे कालाग्नि के समान तेज वाले मुख के कराल-दाढों को देख कर भय से दिशायें भूल जाती हैं और चित्त बेचैन हो जाता है, हे जगन्निवास! देवेश! मेरे पर प्रसन्न हो। यही दशा धृतराष्ट्र के पुत्रों, उनके सेनाओं, भीष्म, द्रोण, सूतपुत्र और मेरे मुख्य

योधावों को हो रहो है कि तुम्हारे भयानक और कराल दाढ़वाले मुख में जल्दी २ घुसे जाते हैं; कितने तो दांतों के रंध्र में लिपटे हैं और कितनों का सिर चूर हो गया है। जैसे नदी के जलसमूह का वेग समुद्र में गिरता है उसी प्रकार यह मर्त्यलोक के वीर तुम्हारे ज्वलन्त मुंह में घुस रहे हैं। जैसे पतंग नाशहेतु प्रज्वलित अग्नि में वेग से गिरते हैं वैसेही वेग से यह लोग नाश हेतु तुमारे मुख में प्रवेश करते हैं। ज्वलंत मुख से तुम संपूर्ण लोक को चारो ओर ग्रास करते हुए चाट रहे हो और समग्र जगत को अपने उग्रप्रभा से तेजपरिपूर्ण करके तपा रहे हो। हे देवदेव! मैं तुम को नमस्कार करता हूं मेरे पर प्रसन्न हो और यह बताओ कि यह उग्ररूपधारी तुम कौन हो? मैं तुमारे आदिस्वरूप को जानना चाहता हूं, तुमारा वृत्तान्त नहीं जानता।

भगवान ने कहा कि मैं महाकाल लोकक्षयकारी लोक के नाश में प्रवृत्त हूं। तुम को छोड़ ये सन्मुखस्थ प्रत्येक सेनावों के योधावों में से एक न बचेंगे अतएव तुम उठो यश लाभ करो और शत्रुवों को मारकर वृहतराज्य भोगो। मैं तो इन को पहिले ही मार चुका हूं तुम केवल एक निमित्त मात्र हो जाव। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण और २ अनेक योधा मेरे मारे पड़े हैं, तुम चिन्ता मत

करो इनको समाम करो और तुम्हारी जय होगी।

संजय ने कहा कि कृष्ण की इतनी बात सुनकर अर्जुन ने डर के मारे कांपते २ फिर हाथ जोड़ कर गद्गद हो कर नमस्कार कर के कहा कि हे कृष्ण! यह ठीक है कि तुमारी कीर्ति से जगत आनन्दित होता है और तुम में प्रीत करता है और राक्षस भयभीत होकर इधर उधर भागते हैं और सिद्ध समूह तुम को नमस्कार करते हैं। वे ऐसा क्यों न करें तुम तो ब्रह्मा के भी आदि कर्ता गुरु हो! हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत असत मे श्रेष्ट है वह अविनाशी तुम हो। तुम आदिदेव हो, पुराण पुरुष हो और इस विश्व के परमाधार हो, इस के जानने वाले और जानने योग्य हो और परमधाम हो। हे अनन्त रूपधारी! यह विश्व तुम से व्याप्त है, तुम वायु हो, यम हो, अग्नि हो, वरुण हो, चन्द्रमा हो, पितामह हो और ब्रह्मा के भी उत्पन्न करने वाले हो तुमको नमस्कार है, सहस्रों नमस्कार है और फिर २ नमस्कार है। तुम सब कुछ हो, तुम को आगे से नमस्कार पीछे से नमस्कार और सब ओर से नमस्कार है। तुम अत्यन्त पराक्रम और वीर्यशाली हो, सब में व्यापक और सर्वरूप हो। यदि मैं ने तुमारी इस बड़ाई को न जानकर अज्ञानता से वा मित्र-स्वभाव से यह समझकर कि तुम मेरे सखा हो हे कृष्ण, हे

यादव, हे मित्र कहकर सम्बोधन किया है तो उसको क्षमा करो। यदि खेलते, सोते, बैठते अथवा खाते समय अकेले वा मित्रों के संग मैंने हंसी में भी तुमारा अपमान किया हो तो हे अप्रमेय! उस को क्षमा चाहता हूं। तुम सर्वोत्तम हो और इस चराचरमयलोक के पिता हो, सब गुरुओं के गुरु हो, और पूज्य हो, तीनों लोक में तुम से बढ़ कर कोई दूसरा नहीं है, तुम अनूपरूप वाले हो अतएव मैं शरीर को झुका कर प्रणाम करता हूं, तुम स्तुति करने के योग्य ईश हो तुम को प्रसन्न करता हूं। हे देवदेव! जैसे पिता पुत्र, सखा सखा का और प्रीत करने वाला अपने प्रीत पात्र का अपराध क्षमा करता है वैसेही तुमको भी मेरा अपराध क्षमा करना चाहिये। तुमारे विश्वरूप को जिसको पहिले कभी नहीं देखा था देख कर मेरे रोयें खडे हो आये हैं और मन ठिकाने नहीं है। हे देवेश जगन्निवास! प्रसन्न होकर अपने देवरूप को दिखावो हम तुमको वैसेही मुकुटधर, गदाधर, और चक्रधर देखा चाहते हैं। हे अनन्तबाहु विश्वमूर्त्ति! उसी चतुर्भुज रूप में फिर प्रगट हो।

— भगवान ने कहा कि हे अर्जुन! मैं ने प्रसन्न होकर अपने ऐश्वर्य से यह तेजोमय अनन्त और आदि में होने वाला उत्तम विश्वरूप तुम को दिखाया, इस रूप को तुम्हें छोड़

और किसी ने नहीं देखा। तुम को छोड़ कर इस नर लोक में दूसरा कोई वेदविहित यज्ञ कर, अध्ययन कर, दान कर, योग कर वा उग्रतप कर के भी इस रूप को नहीं देख सका। मेरे इस भयंकर विश्वरूप को देख कर डरो मत और न विमूढ़ हो, भय त्याग कर प्रसन्नचित्त हो कर मेरे देवरूप को फिर देखो।

संजय ने कहा कि राजन, कृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार कह फिर अपना देवरूप दिखाया और मानुष तन धारण कर के प्रसन्नमुख आश्वासन दिया।

अर्जुन ने कहा कि अब तुमारे इस सौम्य मानुषतन को देख कर मेरा चित्त ठिकाने हुआ, व्याकुलता जाती रही और स्वास्थ्य को प्राप्त हुआ।

भगवान ने कहा कि यह हमारा विश्वरूप जो तुम ने देखा दुर्लभ है देवते भी इस के देखने के लिये सदा तरसा करते हैं। यह रूप न वेद के द्वारा देखा जासक्ता है, न दान के द्वारा न तप या यज्ञ के द्वारा, अनन्य भक्ति द्वारा तो निःसन्देह जानने देखने और मिलने योग्य है। जो पुरुष मेरे ही लिये कर्म करता है, मुझी को परम जानता है, मेरा ही भक्त है, संग रहित और प्राणियों में निर्वैर है वह मुझ को पा सक्ता है।

द्वादश अध्याय ।

भक्ति योग ।

अर्जुन ने पूछा कि इस प्रकार जो भक्त तुमारी उपासना करते हैं और जो तुम को अक्षर और अव्यक्त मानते हैं उन में से विशेष योग जानने वाला कौन है ?

भगवान ने कहा कि जो पुरुष नित्य पूरी श्रद्धायुक्त मेरे में मन लगा कर मेरी उपासना करता है वह मेरे मत में श्रेष्ट योगी है और जो सर्वत्र समबुद्धि, सब प्राणियों के कल्याण करने में रत इन्द्रियसमूह को रोक कर मुझ को अविनाशी, इन्द्रियों के अगोचर, अव्यक्त, सर्वगत, अचिंत्य, स्थायी और अचल समझ कर उपासना करते हैं वह भी मुझ को पाते हैं किन्तु अव्यक्त भाव से भक्ति करने वालों को विशेष क्लेश होता है, यह गति देहधारियों को दुःख से प्राप्त होती है। जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे में अर्पण करके अनन्य योग से मेरी उपासना करते हैं और मुझी को सब से श्रेष्ट मानते हैं और जिनका चित्त मेरेही में स्थित है मैं उन को मृत्युसंसाररूपी सागर से शीघ्रही बचा लेता हूं। तुम भी मेरे ही में मन और बुद्धि को लगाओ तो मेरे समीप रहोगे इस में सन्देह नहीं। यदि तुम अपना चित्त मेरे में स्थिर स्थापित नहीं कर सक्ते हो तो अभ्यास योग से मेरे पाने की इच्छा करो। यदि अभ्यास योग में भी असमर्थ हो

तो मेरे अर्थ कर्म करनेवाले हो, मेरे लिये कर्म करने से भी सिद्धि पाओगे। यदि यह भी नहीं कर सक्ते हो तो मेरे योग के आश्रित और जितात्मा हो कर कर्मफल का त्याग करो क्योंकि योगाभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञान से ध्यान विशेष है ध्यान से कर्मफलत्याग उत्तम है और त्याग से शांति प्राप्त होती है। प्राणियों में द्वेष न करने वाला, मित्रभाव, दयावान, ममतारहित, अहंकारशून्य, सुख दुःख में सम, क्षमा करनेवाला, सन्तोषी, सदा समाहितचित्त, जितात्मा, निश्चयकरनेवाला और मेरे में मन और बुद्धि को स्थापन करनेवाला मेरा भक्त मुझ को प्रिय है। जिस से लोक क्षोभित न हो और जो लोक से क्षोभित न हो और हर्ष, डाह, भय और उद्वेग से रहित है वह भी मेरा प्रिय है और जो मेरा भक्त इच्छारहित, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, पीड़ारहित और सब आरम्भो का त्यागी है वह भी मेरा प्यारा है। जो न हर्षित होता, न द्वेष करता, न शोच करता और न कुछ इच्छा करता, शुभाशुभ त्यागी भक्त है वह भी मेरा प्रिय है। जो शत्रु और मित्र को सम समझता है, मान अपमान, शीत उष्ण और सुख दुःख को समान जानता है और संग रहित निन्दा स्तुति में तुल्य, सौम्य, सुलभसंतुष्ट, अनिकेतन और स्थिर मति भक्त है वह भी प्रिय है। जो श्रद्धावान मुझ को परम

प्राप्य जाननेवाला इस यथोक्त धर्मामृत का अनुष्ठान करता है वह भक्त मेरा परम प्रिय है।

त्रयोदश अध्याय।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग।

अर्जुन ने कहा कि मैं यह जाना चाहता हूं कि प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय किस को कहते हैं हे केशव ?

भगवान ने उत्तर दिया कि यह शरीर क्षेत्र है और जो इस को ऐसा जानते हैं वे क्षेत्रज्ञ कहाते हैं। सब शरीरों में क्षेत्रज्ञ मुझ को जानो; क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान मेरा निश्चित ज्ञान है। यह क्षेत्र कैसा और किस प्रकार का है, उस का विकार क्या है और कहां से है और वह क्षेत्रज्ञ कैसा है और क्या उस का प्रभाव है मैं संक्षेप से कहता हूं सुनो। ऋषियों ने बहुत प्रकार इस का कथन किया है और वेद ने भी अनेक भांति वर्णन किया है, ब्रह्मसूत्र द्वारा सिद्धान्त करने वालों ने भी इस का निश्चय किया है। पञ्च महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, ग्यारह इन्द्रियां और पांच उन के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना, और धैर्य यह विकार सहित क्षेत्र के संक्षेप विभाग हैं। मान का न चाहना,

दम्भ न करना, हिंसा न करना, सहनशील होना, सब से सरल स्वभाव रखना, गुरु की सेवा करना, शुचि रहना, स्थिर रहना, आत्मनिग्रह करना, इन्द्रिय विषय से विरक्त रहना, अहंकार न करना, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःखों में दोष देखना, विषयों में प्रीति न होना, पुत्र स्त्री गृहादि में ममता न करना और सदा इष्ट अनिष्ट प्राप्ति में सम चित्त रहना, मेरे में अनन्य और अवंचित भक्ति रखना, एकान्तदेशसेवन, जनसमूह में प्रीति न रखना, अध्यात्म योग में नित्य प्रहृति, और तत्वज्ञान के अर्थ को जानना, इसी को ज्ञान कहते हैं और इस के विपरीत को अज्ञान कहते हैं—जो ज्ञान जानने योग्य है वह मैं तुम से कहता हूं जिस को जान कर अमरत्व प्राप्त होता है। परम-ब्रह्म अनादि है न सत है न असत है, सब ओर उस का कान हाथ व पैर है, सब ओर आंख शिर और मुंह है, सब ओर रहने वाला और सब वस्तुवों में व्याप्त होकर स्थित है। सब इन्द्रियों के गुण का आभास है और इन्द्रियों से रहित भी है, असंवद्ध है और सब का धारण करने वाला भी है, निर्गुण है और गुणों का भोगने वाला भी है। प्राणियों के बाहर और भीतर है, चर और अचर है, ऐसा सूक्ष्म है कि जाना नहीं जाता, दूर भी है निकट भी है। वह प्राणियों में विभक्त नहीं है और विभक्त भी रहता है,

प्राणियों का धारण करने वाला है, ग्रास करने वाला है और उत्पन्न करने वाला भी है। ज्योति का ज्योति है और अन्धकार से परे है, ज्ञानरूप है और जानने योग्य है और ज्ञानगम्य होकर सब के हृदय में स्थित है। इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान, तथा ज्ञेय का वर्णन संक्षेप से किया गया यह जान कर मेरा भक्त मेरे भाव को प्राप्त होता है। प्रकृति और पुरुष दोनोंही को अनादि जानो और विकार और गुण को प्रकृति से उत्पन्न जानो। कार्य, कारण और कर्तृत्व का हेतु है और सुख दुःख के भोगकृत्व में हेतु पुरुष है। पुरुष प्रकृति में रह कर प्रकृति जनित गुणों को भोगता है, इसके ऊंच नीच योनि में जन्म लेने का कारण इन्हीं गुणों का संग है। इस देह में यह पुरुष, देखने वाला, अनुमोदन करने वाला, पालन करने वाला, भोग करने वाला, महान, ईश्वर और परमात्मा भी कहाता है। जो इस प्रकार पुरुष और गुणों के संयुक्त प्रकृति को जानता है वह सर्वथा वर्तमान भी फिर जन्म नहीं लेता। कितने बुद्धि से ध्यान करके अपने अन्तःकरण में आत्मा को देखते हैं और कितने सांख्ययोग और कर्मयोग द्वारा देखते हैं और कितने न जाननेवाले दूसरों से सुन कर उपासना करते हैं और सुन्तेहीसुनते मृत्यु संसार पार हो जाते हैं। हे अर्जुन! जितने स्थावर जंगम उत्पन्न होते हैं

सब को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से जानो । जो सब प्राणियों में ईश्वर को समरूप स्थित और नाशमानों में अविनाशीरूप देखता है वही डिठार हैं । जो ईश्वर को सर्वत्र समस्थित जान कर अपने से आत्मा को पीड़ित नहीं करता वह परमगति को पाता है । जो यह समझता है कि सब कर्म प्रकृतिही द्वारा होते हैं आत्मा कुछ नहीं करता वही जानकार कहाता है । जब प्रथक २ प्राणियों को एकही में विलीन और फिर उसी से विस्तरित जानने लगता है तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है । यह अविनाशी परमात्मा अनादि और गुणरहित होने के कारण शरीर में स्थित रह कर भी न कोई कर्म करता है और न कलुषित होता है । जैसे सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्मता के कारण नहीं बिगड़ता उसी प्रकार यद्यपि आत्मा की स्थिति सब प्रकार के देहों में रहती है किन्तु कहीं लिप्त नहीं होता । जैसे एक सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा सब शरीरों को प्रकाशमान करता है । जो मनुष्य इस प्रकार ज्ञानचक्षु द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को और प्रकृति से प्राणियों के मोक्ष को जानता है वह परमपद को पाता है ॥

चतुर्दश अध्याय।

त्रिगुण विभाग योग।

भगवान ने कहा कि मैं फिर उस उत्तम और श्रेष्ठ ज्ञान को कहूंगा जिस को जानकर मननशील पुरुषों ने इस देह को छोड़कर परमसिद्धि को प्राप्त किया है। इस ज्ञान के आश्रय से मेरे समान विभव वाले होकर वे उत्पत्ति काल में न जन्म लेते हैं और न प्रलय में उन को कुछ दुःख होता है। हे अर्जुन मेरे महत्तब्रह्म अर्थात् प्रकृति को योनि समझो मैं उस में गर्भ स्थापन करता हूं उसी से प्राणियों की उत्पत्ति होती है। और अनेक योनियों में जो जीव उत्पन्न होते हैं उन सब का उत्पत्तिस्थान यही प्रकृति है और बीजदाता पिता मैं हूं। सत्व, रज और तम आदि गुण जो प्रकृति से उत्पन्न हैं इस देह में अविनाशी जीव को बांधते हैं किन्तु इन में से सत्व प्रकाशक और व्यथारहित निर्मलता के कारण सुखसंग और ज्ञानसंग द्वारा बंधन करता है। रजोगुण को जीवनतृष्णा और धनादिक में आसक्ति का करानेवाला और विषय आदि में प्रीत उपजानेवाला जानो वह जीव को कर्म संग से बांधता है। तम को अज्ञानजनित और सब देहधारियों को मोहित करनेवाला जानो, वह प्राणियों को प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बांधता है, अतएव सतोगुण सुख में रजोगुण

कर्म में युक्त करता है किन्तु तमोगुण ज्ञान को नष्ट करके प्रमाद में युक्त करता है। रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सतोगुण प्रगट होता है; रजोगुण और सतोगुण को जीतकर तमोगुण प्रबल होता है उसी प्रकार तमोगुण और सतोगुण को दबाकर रजोगुण बली हो जाता है। जब शरीर के सब द्वारों अर्थात् इन्द्रियों से ज्ञान का प्रकाश हो तब सतोगुण की वृद्धि जानना चाहिये। लोभ, सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, नित्य नवीन संकल्प करना, इच्छा, यह सब रजोगुण के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं और जब तमोगुण बढ़ता है तो विवेक की हानि, निरउद्यमता, अज्ञान और भ्रम का प्रादुर्भाव होता है। जब सतोगुण के अधिक बढ़ने पर देहधारी मरता है उत्तम ज्ञानवालों के प्रकाशमय लोक को प्राप्त करता है। रजोगुण की वृद्धि की अवस्था में मरने से कर्मसंगियों में जन्म होता है तथा तमोगुण की अवस्था में मरनेवाला नीच योनि में जन्म लेता है। सुकृत कर्म का फल निर्मल और सात्विक कहाता है और रजोगुण का फल दुःख तथा तमोगुण का फल अज्ञान है। सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से लोभ वैसे ही तमोगुण से अहंकार, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है। जो सतोगुण में स्थित हैं स्वर्ग लोक को जाते हैं और जो रजोगुण में स्थित हैं वे मध्य

में रहती हैं और नीचगुण में स्थित तमोगुणी अधोगति को पाते हैं। जब विठारपुरुष गुण से अन्य किसी को करता नहीं देखता किन्तु गुण से परे मुझको जानता है वही मेरे ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। जब देहधारी इन तीनों देह से उत्पन्न-गुणों को डांक कर जन्म, मरण, जरा और दुःखों से विमुक्त हो जाता है तब मोक्ष को पाता है।

अर्जुन ने पूछा कि हे प्रभु इन तीनों गुणों के उल्लंघन करने का क्या चिन्ह है? वह क्या आचार करता है और किस उपाय से इन से छुटकारा पाता है?

भगवान ने कहा कि हे अर्जुन जो प्रकाश (सत) प्रवृत्ति (रज) और मोह (तम) के उद्भव से उदविग्न नहीं होता न उनके अभाव में उनको इच्छा करता, उदासीन अवस्था में स्थित रहता है, इनके प्रभाव से विचलित नहीं होता वरन ऐसा समझता है कि सब गुण अपने २ कार्य में निरत हैं, सुख दुःख में सम, स्वस्थ, ढेला, पत्थर और सोना को समान जानता है, प्रिय अप्रिय को तुल्य समझता है, निन्दा स्तुति और मान अपमान, मित्र शत्रु को तुल्य जानता है और आरम्भ त्यागी है वही गुणातीत कहाता है। जो भक्ति पूर्वक एकान्त मेरी ही सेवा करता है वह इन गुणों को अतिक्रम करके ब्रह्मभाव के लिये योग्य होता है। क्योंकि

मैं ब्रह्मस्थान हूं और यह ब्रह्म नित्य अखंड अविनाशी सत्यरूप धर्माकार और नित्यानन्द है।

पञ्चदश अध्याय।

पुराण पुरुषोत्तम।

भगवान ने कहा कि इस संसार रूपी वृक्ष को, जिस का मूल परमपुरुष परब्रह्म है और ब्रह्मा आदि देव जिस की शाखा हैं और वेद और उनकी ऋचायें जिस के पत्ते हैं, जिसने अश्वत्थ अर्थात् अनित्य (और अज्ञानियों के लेखे अविनाशी) जाना वही वेद का जानने वाला है। उस वृक्ष को गुणों द्वारा सिंचित विषयरूप कोंपल वाली शाखा पशुपक्षि योनि और देवादि योनि में फैली हुई है। नीचे की डाली सदा सर्वदा कर्मों से बंधी है वैसेही इस लोक में न इस का रूप मिलता न आदि न अन्त और न लयस्थान। इस सुदृढ़ जड़वाले वृक्ष को असंगरूपी कठिन शस्त्र से काट कर उस पद को ढूंढना चाहिये जहां जाकर फिर लौटना नहीं होता और उस आदि पुरुष की शरण लेना चाहिये जिस से इस सनातनसृष्टि का पसार है। मानमोहरहित, संगदोष विमुक्त, आत्मज्ञान विलिप्त, कामनाओं से निवृत्त, सुखदुःख रहित, पूर्ण

पंडित अविनाशी पद को पाता है। जहां सूर्य, चन्द्र और अग्नि का प्रकाश नहीं होता और जहां जाकर फिर कोई लौटता नहीं वह मेरा परम धाम है। इस लोक में जीव मेराही अंश है और वह सनातन है और मन समेत छवोइन्द्रियों को जो प्रकृति में रहती हैं खींचता है। जब जीवात्मा शरीर को पाता वा छोड़ता है इन इन्द्रियों को संग ले जाता है जैसे वायु फूलों से सुगन्ध को। ये सब मन को कान, आंख, त्वचा, वाणी, नाक पर प्रधान करके अपने २ विषय को भोगते हैं। शरीर को छोड़ते हुए, शरीर में वास करते हुए, वा तीनों गुण समेत विषयों को भोग करते हुए अज्ञानी लोगों को नहीं सूझता किन्तु ज्ञानचक्षुवाले भली भांति देखते हैं। यत्न करने से योगी लोग इस आत्मा को अपने आत्मा में स्थित देखते हैं किन्तु जिन का मन मलीन है वे मूढ़मत यत्न करने से भी इस आत्मा को नहीं देखते। सूर्य के भीतर जो तेज है जिस्से सम्पूर्ण जगत प्रकाश मान होता है तथा चन्द्रमा और अग्नि में जो ज्योति है वह मेराही प्रकाश जानो। पृथ्वी में प्रवेश कर अपनी शक्ति से जगत को धारण करता हूं और चन्द्रमारूप रसमय हो कर सम्पूर्ण औषधि का पोषण करता हूं। मैं जठराग्नि हो कर प्राणियों के शरीर में रह कर प्राण अपान वायु से

मिल कर चार प्रकार भोजन को पकाता हूं। मैं सब के हृदय में विराजमान हूं, मुझी से स्मृति, ज्ञान और उन के अभाव को जानो। वेदों द्वारा जो जानने के योग्य है वह मैं हूं और वेदान्त शास्त्र का निर्माण करता और वेद का जानने वाला भी मैंही हूं।

इस लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं, क्षर और अक्षर, सब भूत क्षर हैं किन्तु जो कूटस्थ है वह अक्षर है। उत्तम पुरुष जिसे परमात्मा कहते हैं वह तो और ही है जो अविनाशी और सर्वसामर्थी और तीनों लोक में पूर्ण हो कर भरण पोषण करता है। मैं क्षर और अक्षर दोनों से बाहर हूं और मैंही लोक औ वेद में पुरुषोत्तम कहाता हूं। हे अर्जुन! जो बुद्धिमान निश्चय सहित मुझ को पुरुषोत्तम जानता है वही सब पदार्थों का जानने वाला और मेरा भक्त है। यह गुप्ततम शास्त्र मैंने तुमको बतलाया इस को जानकर मनुष्य पूरा बुद्धिमान और कृत कृत्य हो जाता है।

षोड़श अध्याय।

दैवासुर सम्पत विभाग योग।

भगवान ने कहा कि निर्भयता, हृदय-की-शुद्धता, ज्ञान योग में दृढ़ता, दान, इन्द्रियदमन, पञ्चयज्ञकर्म, तप और सब से प्रीति, किसी को दुःख न देना, सच बोलना,

क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, दया, लालच न करना, कोमलता, लज्जा, विना प्रयोजन कोई काम न करना, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, अभिमान का न करना यह सब देवतों के लक्षण हैं। दम्भ, अभिमान, क्रोध, कटुवचन कहना और अज्ञान यह सब असुर के लक्षण हैं। देवतों की प्रकृति मुक्ति की हेतु है और आसुरी बंधन की। हे अर्जुन! तुम सोच मत करो तुमारी सृष्टि दैवी सम्पत्ति की है।

इस लोक में दो प्रकार की सृष्टि है दैवी और आसुरी, दैवी तो सविस्तर वता चुके अब आसुरी सुनो। धर्म में रुचि और अधर्म में अरुचि को असुर लोग नहीं जानते न उन में शौच, आचार विचार वा सचाई होती है। वे जगत को सत्य रहित, धर्माधर्म शून्य, निरीश्वर, काम जनित स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न मानते हैं और कहते हैं कि इसका दूसरा कारण क्या हो सक्ता है? ऐसा विचार करने वाले नष्टबुद्धि, अल्पज्ञ, कुकर्मी, जगत के वैरी इसके नाश के हेतु जन्म लेते हैं। संसारी कामना पर भरोसा करके, जो कभी पूरी नहीं होती, दम्भ, मान और मद से भरे हुए अज्ञानवश बुरे कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। वे प्रमाण सांसारी चिन्ता को जो प्रलय के अन्त तक समाप्त नहीं होती आश्रय कर के काम के बड़े भोग को सब

मे उत्तम जानते हैं और निश्चय करके कहते हैं कि इस से बढ़ कर और कुछ नहीं है । सैकड़ों आशा के फंदो में फंसे और काम और क्रोध में सने हुए अपने और इन्द्रियों के विषय के अर्थ अधर्म से रुपया बटोरना चाहते हैं । "यह पदार्थ अब मैं ने पा लिया और यह मनोर्थ भी मेरा पूर्ण होगा, यह धन तो मेरे पास है इतना और बढ़ेगा, इस शत्रु को मैं ने मारा औरों को भी मारूंगा, मै सामर्थी, भोगप्राप्त, पूर्णकाम, बलवान और सुखी हूं, मैं धनवान और कुटुम्बी हूं मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूंगा, लोगों को दान दूंगा और प्रसन्न हूंगा" अज्ञानी मोहवश ऐसी जल्पना किया करते हैं । ऐसे लोग अनेक प्रकार के सोच के कारण भ्रम में पड़े और मोह के जाल में फंसे हुए, इन्द्रियों के भोग में बंधे हुए अशुद्ध हृदय वाले घोर नर्क में पड़ते हैं। अपने को बहुत बड़ा समझने वाले, अभिमानी, धन और मान के मद से भरे हुए, पाखंडी, नाम के लिये विधिरहित यज्ञकरते हैं । अहंकार, बल, प्रभुता और काम क्रोध के आश्रित मेरे साथ, जो उनके और दूसरों के देह में रहता हूं, बैर करते हैं और अज्ञानवश निन्दा करते हैं । उन बुरे कहने वाले, कठोर हृदय, अधम और निकम्मे लोगों को मैं तत्कालही संसार में आसुरी योनि में जन्म देता हूं।

उस योनि को पा करके अज्ञानी लोग जन्म जन्म मुझको न पाकर अन्त निकम्मी गति को पाते हैं।

आत्मा के नाश करने वाले काम क्रोध लोभ नाम तीन नर्क के द्वार हैं इसलिये इन तीनों को त्याग करना चाहिये। इन तीनों को छोड़ कर जब मनुष्य अपने कल्याण के अर्थ काम करता है तो परम गति को पाता है। जो शास्त्र को विधि को छोड़कर अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करते हैं न परमगति को पाते हैं न सुख न सिद्धि को। इसलिये शास्त्र के अनुसार जो कर्म करने और न करने योग्य ठहराये गये हैं उनको शास्त्रविधान से तुम कर सकते हो॥

सप्तदश अध्याय।

त्रिगुण विभाग योग।

अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण! जो लोग शास्त्र को विधि को छोड़ कर श्रद्धा से यज्ञ करते हैं उनको प्रवृत्ति सतोगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी है?

भगवान ने कहा कि शरीरधारियों को प्रकृति स्वभावतः तीन प्रकार को होती है, सात्वकी, राजसी और तामसी, वास्तव में सब को श्रद्धा सतोगुण के अनुसार होती है। यह पुरुष श्रद्धा से भरा है किन्तु जैसी जिस को वासना होती है वैसाही वह पुरुष होता है। सतोगुणी पुरुष

देवतों की पूजा करते हैं, राजसी यक्ष राक्षस की और तामसी प्रेत और भूत गणों को। जो लोग शास्त्र के विरुद्ध दम्भ और अहंकार संयुक्त और काम राग में लगे हुए तपस्या करते हैं, शरीर के पांचो भूत और इन्द्रियों को सुखलाते हैं और देह के भीतर बैठे हुए मुझ को क्लेश देते हैं उनको निश्चय असुर जानो।

आहार भी सब को तीनप्रकार का प्यारा होता है, वैसेही यज्ञ तप और दान भी। उसका ब्योरा सुनो। आयु, उत्साह, बल, प्रसन्नता और रुचि के बढ़ाने वाला, रसेदार, चिकना, चिरस्थाई और मन भावन भोजन सात्विकी लोगों को प्रिय होता है। तीता, खट्टा, नमकीन, गरम, रूच, दाह उत्पन्न करने वाला और दुःख शोक और रोग उत्पन्न करने वाला भोजन राजसियों को प्रिय है। शीतल, सूखा, सड़ा, बासी, जूठा और शास्त्र वर्जित आहार तामसियों को प्रिय है। फल की आकांक्षा परित्याग, दृढ़ विचार से कि यज्ञ करना उचित है शास्त्र की आज्ञानुसार जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विकी यज्ञ कहाता है। फल की इच्छा करके और पाखंड के हेतु जो यज्ञ किया जाता है उसको राजसी यज्ञ समझो। विधिरहित, अन्न दान बिना, मन्त्रहीन, बिना दक्षिणा और श्रद्धा विहीन जो यज्ञ किया जाता है वह तामसी यज्ञ कहाता है। देव,

द्विज, गुरु और पंडितकी सेवा, पवित्रता, आधीनता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा यह शरीर का तप कहलाता है। ऐसी बात कहना जो किसी को बुरी न लगे, और सच्ची, प्यारी और हितकारी हो और वेदपाठ करना, यह वाणी का तप कहाता है। मन प्रसन्न रखना, अचंचल भाव से रहना, बहुत न बोलना, आत्मा को रोकना और अन्तःकरण को शुद्ध रखना इस को मन का तप कहते हैं। जो मनुष्य पूरी श्रद्धा से तीनों प्रकार के तप को एकाग्र मन से और फल की इच्छा को छोड़ कर करता है वह सतोगुणी तप का करने वाला कहाता है। सत्कार मान और पूजा होने की इच्छा करके दम्भ से जो तप किया जाता है वह इस लोक में राजसी तप कहाता है जो केवल सांसारिक और अनित्य है। जो तप अज्ञान से अपने शरीर को दुःख देकर अथवा दूसरों को पीड़ा देने के अर्थ किया जाता है वह तामसी तप कहाता है। दान तो देनाही है किन्तु वह यदि प्रत्युपकार की कांक्षा न कर के अच्छे देश और काल में सुपात्र को दिया जाय तो वह दान सात्विकी कहाता है। जो दान प्रत्युपकार के अर्थ दिया जाय और पीछे पछतावा हो वह दान रजोगुणी कहाता है। जो दान कुदेश और कुसमय में कुपात्र को विना सत्कार अनादर से दिया जाय वह तामसी दान कहलाताहै।

ओम तत सत यह तीन नाम ब्रह्म के कहे गये हैं और इन्हीं से जगत के पहिले ब्राह्मण वेद और यज्ञ रचे गये थे। इसी लिये ब्रह्मवादी लोग प्रणव को उच्चारण कर वेद की कही हुई विधि से यज्ञ, दान और तप करते हैं। तत् शब्द उच्चारण करके के विना फल की इच्छा मुक्ति के चाहने वाले नाना प्रकार के यज्ञ, दान और तप करते हैं। आस्तिक और मांगलिक भावों में सत शब्द का प्रयोग होता है और श्रेष्ट कर्म में भी यह शब्द बोला जाता है। यज्ञ दान तप में दृढ़ रहने को भी सत कहते हैं और उस के लिये जो कर्म किया जाता है वह भी सत कहा जाता है। बिना श्रद्धा के जो होम किया, दान दिया, तप किया, वा और कोई उत्तम काम किया वह सब असत है। न इस लोक में काम आता न परलोक में॥

अष्टादश अध्याय।

मोक्ष सन्यास योग।

अर्जुन ने कहा कि हे हृषीकेश मैं सन्यास और त्याग का पृथक २ तत्व जाना चाहता हूं।

भगवान ने उत्तर दिया कि पण्डितों ने कामनायुक्त कर्मों के त्याग को सन्यास कहा है और कर्मों के फल

की इच्छा के परित्याग को त्याग कहते हैं। एक कहता है कि कर्म को दोष की भांति छोड़ देना चाहिये और दूसरा कहता है कि यज्ञ दान और तप यह कर्म छोड़ने के योग्य नहीं हैं। इस त्याग के विषय में मेरे निश्चय को सुनो। वास्तविक त्याग तीन प्रकार का है। यज्ञ दान तप ये कर्म त्याग करने के योग्य नहीं हैं बरन करनेही योग्य हैं। इन से मनुष्यों का अन्तःकरण शुद्ध होता है। निश्चय मेरा यह उत्तम मत है कि इन कर्मों को तो करनाही चाहिये केवल उनका संग और उन के फल की इच्छा को छोड़ देना चाहिये। नियत कर्म का छोड़ना उचित नहीं है। मोह से उनका छोड़ना तामसी त्याग कहा जाता है। जो कर्म केवल दुःख समझ कर शरीर के क्लेश के भय से त्याग किया जाता है वह त्याग राजसी है, उस का फल नहीं मिलता। जो कर्म यह समझकर कि करने योग्य है संग और फल परित्याग कर नियत रूप किया जाता है वह सात्विकी त्याग कहाता है। जो पुरुष दुःखदायी कर्मों के करने से बुरा नहीं मानता और न सुखदायी कर्मों में आसक्त होता सतोगुणी बुद्धिमान और छिन्नसंशय त्यागी कहाता है। देहधारी सम्पूर्ण कर्मों को छोड़ नहीं सक्ता, जो कर्मफल का त्याग करता है वही सच्चा त्यागी है। कर्म के फल अच्छे, बुरे और मिश्रित तीन प्रकार के होते

हैं और अत्यागी को तो परलोक में भी मिलते हैं किन्तु सन्यासी को कहीं नहीं मिलते।

सांख्य और वेदान्त में सम्पूर्ण कर्मों के पूरे होने के पांच कारण कहे हैं सो मुझ से सुनो। शरीर, कर्ता, इन्द्रियों के व्यापार और न्यारी २ चेष्टायें, और पांचवां देवता। शरीर वाणी और मन से जो कर्म मनुष्य करता है चाहे वह पुण्य कर्म हो वा उस के विपरीत यही पांचो उसके कारण होते हैं। ऐसा होने पर जो मूर्खता से केवल आत्मा ही को कर्ता जानता है वह विचार नहीं है। जिस को अपने कर्तापन का अभिमान नहीं है और जिस की बुद्धि अभिमान में लिप्त नहीं होती वह इन लोगों को मार कर भी नहीं मारता और न बंधन पाता है।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह तीन प्रकार की कर्म की प्रेरणा है और करण, कर्म और कर्ता तीन प्रकार के कारक हैं। ज्ञान कर्म और कर्ता भी सांख्य शास्त्र में भेद करके तीन प्रकार के हैं वे भी जैसे हैं सुनो। जिस ज्ञान द्वारा मनुष्य सब प्राणियों को एक भाव अविनाशी और बे बटे हुए को बटे हुवों में देखता है वह ज्ञान सात्विकी कहाता है। वह न्यारेपन का ज्ञान जिस से भिन्न २ प्राणियों में पृथक २ भाव देख पड़ते हैं राजसी कहाता है। जो पुरुष अज्ञानवश एकही शरीर वा मूर्ति में सम्पूर्णता

का ज्ञान करता है वह ज्ञान उसका तामसी कहाता है। जो नियतकर्म, संग और रागद्वेषरहित विनाफल की आकांक्षा से किया जाता है वह सात्विकी कर्म कहाता है। जो कर्म कामना संयुक्त बड़े प्रयास और अहंकार से किया जाता है वह राजसी कहाता है। जो कर्म पीछे से बंधन का हेतु, हानिकारक और दूसरों को दुःखदायी हो और सामर्थ्य के विचार विना अज्ञानवश किया जाय वह तामसी कहाता है। संगरहित, निरहंकारी, दृढ़, उत्साह संयुक्त, सिद्धि और असिद्धि में विकार न करने वाला कर्ता सात्विकी कहाता है। जो इन्द्रियों के विषय में प्रीति रखने वाला, कर्म के फल का चाहने वाला, लोलुप, क्रूरस्वभाव वाला, और भतीर बाहर अशुद्ध और हर्षशोकसंयुक्त कर्ता है वह राजसी कहाता है। धर्मकर्मरहित, विवेक हीन, लण्ठ, शठ, धोखा देने वाला, शोक करने वाला, आलसी, आज के काम को कल करने वाला, ऐसे कर्ता को तामसी कहते हैं।

बुद्धि और धैर्य के गुणों के प्रभाव से तीन प्रकार के भेद सम्पूर्ण और पृथक पृथक सुनो। जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय और बंधन और मोक्ष को जानती है वह सात्विकी बुद्धि कहाती है। जिस बुद्धि को धर्म अधर्म और कार्य अकार्य

के यथार्थत्व के विपरीत ज्ञान हो उसको राजसी बुद्धि समझना चाहिये । अज्ञान तम से आवेष्टित जिस बुद्धि से धर्म अधर्म और इसी प्रकार सब कर्म उलटे जान पड़ते हैं वह बुद्धि तामसी कही जाती है। जिस धीर शक्ति से मन प्राण और इन्द्रियों की क्रिया और चित्त की वृत्ति रोकी जाती है उसको सतोगुणी शक्ति कहते हैं। जिस शक्ति से धर्म काम और अर्थ को धारण करके अहं-कार पूर्वक फल चाहते हैं वह धृती रजोगुणी कहाती है। जिस के प्रभाव से नीद, भय, शोक विषाद और मद को दुष्ट बुद्धि वाले नहीं छोड़ते उसको तामसी धृती कहते हैं॥

अब तीन प्रकार के सुख मुझ से सुनो जिस में अभ्यास करने से मन लगता है और दुःख दूर हो जाता है। जो सुख पहिले विष की भांति कड़ुवा और पीछे अ-मृत की भांति मीठा हो वह सुख सात्विकी कहाता है और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है। इन्द्रियां और उनके विषय के संयोग से जो सुख पहिले अमृत के समान और पीछे विष के समान हो जावे वह सुख राजसी है। जो सुख नीद, आलस्य और प्रमाद से प्राप्त होता है और आदि अन्त दोनो में मन और बुद्धि को मोह में डालता है वह तामसी सुख कहाता है। पृथ्वी, स्वर्ग अथवा देवतों में भी कोई ऐसा नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न भये तीनों

गुणों से छूटा हो। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्रोंके स्वाभाविक कर्म जो उनके गुणों से उत्पन्न हुए हैं उनके अनुकूल ही विभक्त हैं। शम, दम, तप, शौच, शान्ति, सीधापन, ज्ञान विज्ञान और आस्तिकता यह ब्राह्मण के कर्म उसके स्वभाव से उत्पन्न हैं। शूरता, तेज, धैर्य, चतुरता, लड़ाई से न भागना, दान देना और दंड देने की सामर्थ्य यह सब क्षत्री के स्वाभाविक कर्म हैं। खेती करना, गाय बैल पालना और व्यापार करना यह वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं वैसाही सेवा करना शूद्र का कर्म है। अपने २ कर्म में लगे रहने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है॥

अपने कर्म में लगे रहने से जो सिद्धि मिलती है उसको कहता हूं सुनो। जिससे इस जगत की उत्पत्ति है और जो सब जगत में व्यापक है उसको सब लोग अपने २ कर्म धर्म के अनुसार पूजकर शुभ सिद्धि को प्राप्त करते हैं। अपना गुण रहित धर्म दूसरे के अच्छे प्रकार अनुष्ठित धर्म से अच्छा होता है। स्वभावनियत कर्म का करने वाला पाप नहीं भोगता। स्वभाव जनितकर्म को यदि दोषयुक्त भी हो तो नहीं छोड़ना चाहिये। सब कर्म दोषों से आच्छादित हैं जैसे अग्नि धूम से। जिस की बुद्धि सब कर्मों से विरक्त है और जिसने अपने आत्मा को जीत लिया है वह इच्छारहित पुरुष सन्यास द्वारा परम सिद्धि को पाता है॥

जिस प्रकार सिद्धि पाया हुआ पुरुष ब्रह्म को पाता है वह मैं संक्षेप से तुम से कहता हूं सुनो, यह ब्रह्मज्ञान के प्राप्ति की पूरी निष्ठा है। शुद्धबुद्धियुक्त धीरज से अपने आत्मा को रोककर, शब्दादि विषयों और राग द्वेष को छोड़, सदा एकान्तसेवी, थोड़ा भोजन करनेवाला, वाणी देह और मन का जीतनेवाला, ध्यान में तत्पर, वैराग्य में पूरा आश्रय करनेवाला, अहंकार, बल, दर्प, कामक्रोध और ममता त्यागी शान्तपुरुष ब्रह्म होने के योग्य है। ब्रह्म होकर प्रसन्नात्मा न कुछ शोच करता है और न इच्छा करता, वही सब प्राणियों में समदृष्टि रखनेवाला मेरी परम भक्ति को पाता है। भक्ति के द्वारा वह मुझ को जान लेता है कि मैं क्या हूं और क्या मेरा तत्व है और मुझ को जानकर पीछे मुझी में मिल जाता है। मेरा आश्रितपुरुष सब कर्मों को करता हुआ भी मेरे प्रसाद से सनातन अविनाशी पद को प्राप्त करता है। चित्त से सब कर्मों को मेरे अर्पण करके बुद्धि योग का आश्रयकर मेरे में मन लगावो और मुझको परम समझो। मेरे में मन लगावोगे तो मेरे अनुग्रह से सब बिपत्तियों से छूट जावगे और यदि अहंकारवश न सुनोगे तो नाश को प्राप्त होगे। यदि अहंकार के भरोसे यह कहो कि "हम न लड़ेंगे" तो यह कहना तुमारा मिथ्या हो जायगा तुमारी प्रकृति तुम को

उस में लगा देगो। हे अर्जुन! तुम अपने स्वभावजनित कर्म से बंधे हो मोहवश जिसको नहीं करना चाहते हो वह परवश होकर करोगे। ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बसता है और अपनी माया के द्वारा सम्पूर्ण जगत को कठपुतली की भांति नचाता है। तुम भी उसी की शरण लो उसके प्रसाद से परम शान्ति और सनातन धाम को पावोगे। मैंने यह परम गुप्तज्ञान तुम को बताया इस को सम्पूर्ण रूप विचार करके जैसा चाहो वैसा करो।

उससे भी बढ़कर गुप्त बात तुम से कहता हूं सुनो तुम मेरे परम प्रिय हो अतएव तुमारे हित के लिये कहता हूं। मेरे में मन लगावो, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, और मुझे नमस्कार करो तो मेरे में मिल जावोगे; तुम मेरे प्यारे हो इसलिये यह सच्ची प्रतिज्ञा तुम से करता हूं। सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर मेरे शरण में आवो मैं तुमको सब पापों से छुड़ा लूंगा चिन्ता मत करो। यह गुप्त भेद तुम कभी ऐसे मनुष्य से न कहना जो तप नहीं करता, भक्ति नहीं करता और न उससे कहना जो गुरु की सेवा नहीं करता और न उससे जो मेरी निन्दा करता है। जो इस गुप्तभेद को मेरे भक्त से कहेगा वह मेरी पूर्ण रूप भक्ति करके निश्चय मुझ को प्राप्त करेगा। मनुष्यों में उससे बढ़कर मेरा प्रसन्न करने वाला कोई नहीं है और न होगा और न इस पृथ्वी

मैं उससे बढ़कर मेरा कोई प्यारा होगा। जो पुरुष हमारे तुमारे इस धर्मसंवाद को पाठ करेगा उसने मानो ज्ञान-यज्ञद्वारा मेरी पूजा की यह मेरा सिद्धान्त है। जो श्रद्धावान पुरुष निन्दा न करके इस को प्रेम पूर्वक सुनेगा भो वह पाप से छूटकर पुण्यात्मावों के सुन्दर लोक को पहुंचेगा।

हे अर्जुन! तुमने चित्त लगाकर सुना? तमारा अज्ञानजनित संशय दूर हुआ कि नहीं?

अर्जुन ने कहा कि हे अच्युत अब मेरा संशय दूर हो गया। तुमारी कृपा से मुझ को तत्वज्ञान प्राप्त हुआ अब मैं निश्चिन्त होकर तुमारी आज्ञा प्रतिपालन करने को आरूढ़ हूं।

संजय ने कहा कि मैंने महात्मा वासुदेव और अर्जुन के इस प्रकार विस्मयजनक और रोमांच करने वाले संवाद को सुना है। श्री व्यासजी की कृपा से मैंने इस परमगुप्त योग को साचात योगेश्वर श्री कृष्ण को कहते सुना है। हे राजन् मैं इस कृष्णार्जुन सम्वाद को बारम्बार स्मरण करके प्रतिक्षण हर्षित होता हूं। मुझ को नारायण हरी के उस अद्भुत रूप को जिसका अर्जुन को दर्शन हुआ था बारम्बार स्मरण करके बड़ा विस्मय होता है और रोयें हो खड़े आते हैं। मुझ को निश्चय है कि जिधर योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र और धनुर्धर अर्जुन हैं उसो ओर विजय लक्ष्मी और सम्पति होगी॥

इति।

आर्यभाषापुस्तकालय ।

मैं ने ऊर्ध्व लिखित नाम का एक हिन्दी भाषा की पुस्तकों का संग्रहालय निर्माण किया है और यथा शक्ति पुस्तकों का संचय कर रहा हूं परन्तु यह कहावत है कि "एक हाथ से ताली नहीं बजती" अतएव ग्रन्थ कर्त्ताओं और भाषा के रसिकों से सादर विनय करता हूं कि आप लोग जो ग्रन्थ रचैं संग्रह करैं अथवा कहीं देखैं तो कृपा कर उसकी एक प्रति इस पुस्तकालय में अवश्य भेजिये । यदि बिना मूल्य देना स्वीकृत न हो तो सूचना भेजने पर मूल्य भी भेज दिया जायगा किन्तु नियम यह है कि वह पुस्तक इस संग्रहालय में न हो । सूची पुस्तकों की पुस्तकालय के कार्याध्यक्ष के यहां से मिल सक्ती है ॥

यह पुस्तकालय काशी में चान्दनी चौक के सन्निकट रानी कुयें के पास स्थित है ॥

इटावा
२५-२-९६ ई०

गदाधर सिंह
स्थापन करता ।

सूचना ।

बाबू गदाधर सिंह के अनुवादित निम्न लिखित ग्रन्थों की प्रतियां अब बहुत थोड़ी रह गयीं हैं, अनुग्राहक ग्राहकजनों को जो भाषा के साहित्य के लालित्य का स्वाद लेना चाहैं चाहिये कि शीघ्रता करें नहीं तो पुस्तकों के बिक जाने पर केवल पश्चात्तापही हाथ लगेगा :—

कादम्बरी — प्राचीन पंडितों की उपन्यास रचना का उदाहरण देखना हो तो इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़ना चाहिये मूल्य ... ... ॥।/)

दुर्गेश नन्दिनी — इस ग्रन्थ में आर्यावर्त के क्षत्रिय वीरों की वीरता उपन्यास रूप में वर्णित है। पुस्तक अति उत्तम और रोचक है।

प्रथम भाग ... ... ।/)

द्वितीय भाग ... ... ।/)

बंगविजेता — यह भी उपरोक्त विषय का अति उत्तम ग्रन्थ है, देखनेही योग्य है। मूल्य ... १)

उथेलो — दुष्ट लोग स्वार्थ साधन में अति जघन्य कर्म करने में भी संकोच नहीं करते वरन दूसरों को हानि पहुंचाने के लिये अनेक प्रकार का यत्न करते हैं। इसका चित्र इस ग्रन्थ में अति उत्तम प्रकार से दिखाया गया है। मूल्य ≈)

रोमन उर्दू की पहिली किताब — यदि उर्दू जान वाले रोमन लिखना सीखना चाहैं तो इस पुस्तक क[illegible] चाहिये। मूल्य ... ... ~)॥